# स्वदेशी पत्रिका

वर्ष–19, अंक–11, कार्तिक–मार्गशीर्ष 2068, नवम्बर 2011

संपादक
**विक्रम उपाध्याय**

**कार्यालय**
धर्मक्षेत्रा, सेक्टर–8, बाबू गेनू मार्ग
रामकृष्णपुरम्, नयी
दिल्ली–110022
से प्रकाशित
दूरभाष : 011–26184595
स्वदेशी जागरण समिति की ओर से ईश्वर दास महाजन द्वारा कॉम्पीटेंट बाइन्डर्स (प्रिंटिंग यूनिट), नवीन शाहदरा, दिल्ली–32 से मुद्रित।

## आवरण कथा-4

ध्यातव्य है कि जुलाई 2010 में दिल्ली में पेट्रोल 43 रूपये प्रति लीटर बिकता था। इसी प्रकार डीजल और रसोई गैस भी अभी से बहुत सस्ती थी। हालांकि पैट्रोलियम पदार्थों का बढ़ना कोई नई बात नही है। नया यह है कि पहले ये कीमतें सरकारी नियंत्रण में थी लेकिन जून 2010 से ये बाजारी नियंत्रण में चली गई. . .पहले से मारी मुद्रा स्फीति की मार झेल रहा आदमी सरकार की इस नीति से बिल्कुल असहाय सा हो गया है।

## अनुक्रम

**आवरण लेख**
अर्थव्यवस्था के कुप्रबंधन से त्रस्त आम आदमी
– स्वदेशी संवाद /4

**खाद्य तंत्र**
अब सेहत पर बढ़ता संकट
– देविन्दर शर्मा /7

**अर्थव्यवस्था**
आम आदमी का बढ़ता असंतोष
– डॉ. भरत झुनझुनवाला /10

**स्वास्थ्य**
जरूरत है स्वास्थ्य चिकित्सा पर ध्यान देना
– अवधेश कुमार /13

**जनसंख्या**
सात अरब होने पर हौवा
– भारत डोगरा /16

**पर्यावरण**
बीस साल पुराना सवाल
– सुनीता नारायण /19

**दृष्टिकोण :**
पटरी पर कैसे लौटे भारतीय रेलवे
– डॉ. अश्विनी महाजन /22

**सुरक्षा :**
सुरक्षा पर खतरनाक सुझाव
– अरुण जेटली /24

**सामयिकी :**
अमरीका की दोहरी नीति
– ब्रह्म चेलानी /26

**लेख :** पर्यावरण की भारतीय संकल्पना
– रेणु पुराणिक /28

**तालाब :** अनपढ़, असभ्य और अप्रशिक्षित
– अनुपम मिश्र /31

**विचार–विमर्श :** मुनाफाखोरी ने बनाया अमरीका को कंगाल
– डॉ. रजनीश त्यागी /34

पाठकनामा/2, आंदोलन/36

# पाठकनामा

## एफ–1 बनाम महंगाई और गरीबी

बीते माह ग्रेटर नोएडा में फार्मूला वन रेस का आयोजन हुआ। साथ ही एफ–1 की रेस देखने के लिए तमाम नेता, क्रिकेटर और फिल्मी सितारे भी जमा हुए। बुद्ध इंटरनेशनल सर्किट को बनाने में 20 अरब रुपए खर्च किए गए। इस बुद्ध इंटरनेशनल के सर्किट को जेपी समूह ने बनाया इसके लिए उन्होंने सरकार से कोई मदद भी नहीं ली। यह समाचार प्रत्येक चैनलों पर दिखाया गया और सरकार से टैक्स में छूट की मांग भी की गई। कितने अफसोस की बात है कि महंगाई और गरीबी पर विचार करने के लिए कोई भी पार्टी एक साथ एकत्रित नहीं होती परंतु इस रेस को देखने के लिए भारत के कई दिग्गज नेता, मशहूर फिल्मी हस्ती और क्रिकेटर खिलाड़ी शामिल थे। आज देश महंगाई और गरीबी से जूझ रहा है साथ ही जनता दिन–प्रति–दिन बढ़ती पेट्रोल कीमतों, बढ़ती खाद्य पदार्थों की कीमत से परेशान है, वही दूसरी तरफ हमारे उद्योग जगत दुनिया का महंगा खेल अपने देश में आयोजित करते है। फार्मूला वन रेस को करने में आज भी कई विकसित देश डरते है। क्योंकि इसमें सबसे ज्यादा खर्चा होता है, वही हमारे उद्योगपति इस खेल को कराने में भी नहीं चूकते है। कितनी दुख की बात है कि इन्हें जहां सब भेद–भाव भुलाकर देश में बढ़ती महंगाई और गरीबी पर सहयोग करना चाहिए था। वही दूसरी तरफ इन लोगों ने अपने मनोरंजन के लिए फार्मूला वन रेस का कार्यक्रम आयोजित कर दिया। अब तो केवल जनता को ही जागना होगा और समझना होगा की महंगाई की मार उन पर ही पड़ती है – "नेता और उद्योग जगत व्यर्थ की ही चिंता उनके सामने करते है।" जनता को समझना होगा कि कौन सही है और कौन गलत? **–राकेश पाण्डेय, गली नं. 9, करतार नगर, दिल्ली**

## चाइनीज वस्तुओं का करे बहिष्कार

मैं स्वदेशी पत्रिका का नियमित पाठक हूँ और स्वदेशी विचार केवल कहने के लिए ही नहीं अपने जीवन में भी उतारने की कोशिश भी करता हूँ। मैं समझता हूँ देशहित सबसे पहले है साथ ही यह बात सबको समझने चाहिए। अगर हम बाजार से कोई भी वस्तु खरीदते हैं तो सबसे पहले अपने देश में बनी वस्तुओं को ही प्राथमिकता दें। इससे देश में कई लोगों को रोजगार भी मिलेगा और बेरोजगारी भी काफी हद तक कम हो जाएगी। आज देश में चीनी वस्तुओं का बोलबोला है। मैं दीपावली के एक दिन पहले सदर बाजार गया तो देखकर दुख हुआ। ड्रैगन का कब्जा दिल्ली के लघु उद्योग पर बढ़ता ही जा रहा था। सभी दुकानों पर चाइनीज सामान बिक रहा था। दुकानदारों ने बताया कि हमारे देश में बना माल काफी महंगा बढ़ता है जबकि चीनी माल काफी सस्ता पड़ता है। उन्होंने इसके लिए सरकार को ही दोषी बताया। दुकानदार भी चीनी सामान से चिंतित है और उनके अनुसार इससे हमारा लघु उद्योग दम तोड़ रहा है। एक दुकानदार ने काफी महत्वपूर्ण बात बताई उन्होंने कहा कि पहले चीन केमिकल काफी सस्ता देता था। जिसके कारण भारत में केमिकल निर्माण की काफी इकाइयां बंद हो गई और अब अचानक उसने 100 रुपए से बढ़कर 1000 रुपए तक कर दिया है। इससे हमें समझना चाहिए कि चीन हमें क्यों सस्ता माल भेजता है? वो पहले हमारे देश के उद्योगों को तबाह करेगा फिर हमसे मनचाहा दाम वसूलेगा। जल्द से जल्द हो सके हमें चीनी वस्तुओं का बहिष्कार करना पड़ेगा अन्यथा चीनी ड्रैगन हमारे कई उद्योगों को चौपट कर देगा। **– अमरेश कुमार, आया नगर, नई दिल्ली**

आवश्यक नहीं कि इस अंक के भीतर प्रस्तुत लेखकों के विचार स्वदेशी पत्रिका के संपादक मंडल के विचारों से मेल खाते हों। पाठकों की जानकारी के लिए उन्हें यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।


## संपादकीय कार्यालय

"धर्मक्षेत्र" शिव शक्ति मन्दिर, सैक्टर–8, रामकृष्णपुरम्, नयी दिल्ली–110022

दूरभाष : 011–26184595 • ई–मेल : swadeshipatrika@rediffmail.com

अगर आप घर बैठे स्वदेशी पत्रिका चाहते हैं तो डिमांड ड्राफ्ट, मनीऑर्डर अथवा चेक द्वारा शुल्क *'स्वदेशी पत्रिका'* दिल्ली के नाम भेजने का कष्ट करें।

वार्षिक सदस्यता शुल्क : 100 रुपए

आजीवन सदस्यता शुल्क: 1,000 रुपए

यदि शुल्क भेजने के उपरांत भी आपको पत्रिका समय पर उपलब्ध नहीं हो पा रही है तो तुरंत पत्रिका कार्यालय को सूचित करें।

(ध्यानार्थ : कृपया अपना नाम व पता साफ अक्षरों में लिखें)


## उन्होंने कहा

केंद्र में कांग्रेस के नेतृत्व वाली संप्रग सरकार ने भ्रष्टाचार में शामिल होकर और भ्रष्ट लोगों को बचाकर लोकतंत्र और देश की छवि खराब करने का काम किया है।

– लालकृष्ण आडवाणी

एफ–1 को बेवजह प्राथमिकता दी जा रही है। यह हमारी आर्थिक ताकत का भोंडा प्रदर्शन है। पता नहीं हम किस तरह की संस्कृति को प्रोत्साहित करने में लगे हुए हैं।

– मणिशंकर अय्यर

असमान विकास के लिए अमेरिका सबसे अधिक जिम्मेदार है। बड़े अफसोस की बात है कि भारत और चीन विकास के अमेरिकी मॉडल का अनुसरण किए जा रहे हैं।

– जयराम रमेश

## संपादकीय

# महंगाई की आड़ में कपटी सरकार का खेल

आखिर वित्तमंत्री प्रणब मुखर्जी ने भविष्यवाणी की है कि मंहगाई दिसम्बर तक काबू में आ जायेगी। हालांकि वित्तमंत्री की यह भविष्यवाणी साधारण ज्योतिष की भविष्यवाणी से अधिक नहीं है, इसकी आधी बात अनुमान पर आधारित होती है। वित्तमंत्री ने मंहगाई कम करने के अपने आगे–पीछे शायद यह आधार सामने रखा है कि इस बार का मानसून काफी अच्छा रहा है और उपज अच्छी मिल सकती है। लेकिन विशेषज्ञों की मानें तो अच्छी उपज के बावजूद खाद्य पदार्थों की मूल्य वृद्धि दर नीचे नहीं आ सकती। अनुमान है कि थोक सूचकांक मूल्य वृद्धि दर 9 फीसदी से नीचे नहीं आयेगी इस समय यह मूल्य वृद्धि दर 9.5 फीसदी के आसपास है। वित्तमंत्री पहली बार कुछ गंभीरता से मूल्य वृद्धि के बारे में दावे करते नजर आये हैं। नहीं तो अभी तक सभी मंत्री और कांग्रेस के नेता यही कहते रहे हैं कि वे कोई ज्योतिष नहीं हैं कि बता सकें कि महंगाई कब कम होगी। खाद्य पदार्थों की मूल्य वृद्धि के लिये सीधे तौर पर जिम्मेदार कृषि एवं खाद्य आपूर्ति मंत्री शरद पवार ने तो बचकाने बयान के रिकार्ड तोड़ दिये। वित्तमंत्री के बयान से पहले उनका यह अभियान आया था कि वे अर्थशास्त्र नहीं जानते हैं, उन्हें यह मालूम नहीं कि मूल्य कैसे बढ़ता और कम होता है। खैर, महंगाई में कमी आयेगी यह खबर अपने–आप में सुखद है। लेकिन इसमें दुखद पहलू यह है कि महंगाई कम करने के लिये अर्थव्यवस्था के पहिए को रोका गया। इसमें मानसून से कहीं अधिक भूमि का रिजर्व बैंक ही है। मार्च 2010 के बाद रिजर्व बैंक ने 12 बार ब्याज दरों में बढ़ोत्तरी की है जिसके कारण विकास दर को बताने वाली सकल घरेलू उत्पादन वृद्धि दर 8 फीसदी से नीचे आ गयी है। रिजर्व बैंक ने लगातार अपनी मौद्रिक नीति के जरिये अर्थव्यवस्था से पैसे खींचे। बाजार में तरलता कम होती गयी। उद्योग धंधे के लिये बैंक लोन आदि दुरूह होते गये और एक तरह से मुर्दनी सी छा गयी। लगातार कठोर मौद्रिक नीति ने बाजार पर असर डाला और मुद्रा स्फीति की वृद्धि दर पर थोड़ी रोक लगी। अनुमान है कि इस वित्तीय वर्ष के समाप्त होते–होते मुद्रा स्फीति की दर 8 फीसदी से नीचे आ जायेगी। लेकिन यह एक सवाल भी खड़ा होगा कि क्या सरकार महंगाई को रोकने के लिये जिस तरह की मौद्रिक नीति अपना रही है उससे देश का आर्थिक विकास प्रभावित नहीं होगा? वित्तमंत्री प्रणब मुखर्जी ने ही एक अलग बयान में इसका जबाव दे दिया। उन्होंने कहा– इस वित्तीय वर्ष में 8 फीसदी की विकास दर हासिल करना मुश्किल होगी। यानि विकास को दांव लगाकर महंगाई पर कब्जे की सरकार कोशिश कर रही है। हालांकि देश के पास यह अवसर था कि पूरी दुनिया में फिर छा रही मंदी को अपने लिये फायदेमंद सौदे में तब्दील करता। दुनियाभर के, खासकर पश्चिमी देशों के उद्योग धंधे बंद हो रहे हैं। पूरा यूरोप मंदी की चपेट में आ चुका है। अमरीका पहले ही त्राहि–त्राहि कर रहा है। ऐसे में भारत भी अगर घुटने के बल बैठ जाता है तो स्थिति और भयंकर हो सकती है। क्योंकि बड़े देशों के निवेशक भारत समेत कुछ खास स्थिर अर्थव्यवस्था में ही निवेश की संभावना देख रहे हैं। लेकिन सरकार अपनी ही उलझनों में उलझी हुई है। उसके लिये खुद को बचाये रखना सबसे बड़ी चुनौती है। इसीलिये कारगर नीति या रणनीति बनाने में फिसड्डी साबित हो रही है। सरकार के इस निकम्मेपन के कारण केवल सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग ही नहीं बल्कि निजी क्षेत्र उद्योग भी बुरी तरह प्रभावित हो रहे हैं। निजी क्षेत्र में व्यापार के प्रति विश्वास या भरोसा गिरता जा रहा है। हाल ही में एक अंग्रेजी पत्रिका ने देश के प्रमुख 12 शहरों के 500 से ज्यादा प्रमुख उद्योगपतियों और व्यापारियों से देश के व्यवसायिक माहौल के बारे में जब एक सर्वेक्षण किया तो पाया कि लोगों में जबरदस्त उदासीनता है। अधिकांश उद्योगपतियों या व्यापारियों का मानना है कि आने वाले दिनों में माहौल और खराब होगा। लोगों ने ही अभी से ही औद्योगिक उत्पादन कम कर दिये हैं और अपने निवेश को रोक दिया है। लाभ की स्थिति बिल्कुल निम्नतम स्तर पर पहुंच गयी है। उद्योगपतियों ने लोगों को नई नौकरियां देना भी बंद कर दिया है। यहां तक कि बैंकों ने भी अपनी विस्तार योजना ठप कर दी है। शेयर बाजार में भी पिछले कुछ महीनों में 25–30 फीसदी गिरावट के कारण कई बड़ी कंपनियों के हालात खस्ता हो गये हैं।

# अर्थव्यवस्था के कुप्रबंधन से त्रस्त आम आदमी

**पिछले कुछ वर्षों से यूपीए सरकार के द्वारा जो आर्थिक नीतियां अपनाई जा रही हैं, उससे महंगाई तो बढ़ी ही है साथ ही विकास की संभावनाएं भी उत्तरोत्तर कम हो रही हैं। आम आदमी केवल खाने–पीने की वस्तुओं की महंगाई से नहीं बल्कि पेट्रोल, डीजल और गैस की भयंकर रूप से बढ़ती कीमतों से भी त्रस्त हैं। एनडीए सरकार के समय में घटती ब्याज दरों के कारण जिन लोगों ने कम ईएमआई के आर्कषण में घर और अन्य साजो–समान खरीदे, अब बढ़ती हुई ईएमआई के कारण परेशान हैं।**

2009 में आम चुनाव से पहले यूपीए–1 सरकार ने पेट्रोल की कीमतों में 9 रूपये की कमी थी, लेकिन जैसे ही चुनाव संपन्न हुए, उसके कुछ ही समय बाद दो किश्तों में पेट्रोल का दाम उससे ज्यादा बढ़ा दिया गया। 2010 में पैट्रोल की कीमतें कई बार बढ़ाई गई। पहले से भारी मुद्रा स्फीति की मार झेल रहा आदमी सरकार की इस नीति से बिल्कुल असहाय सा हो गया है।

15 सितम्बर 2011 को पैट्रोलियम कंपनियों ने पेट्रोल की कीमत फिर से 3 रूपये बढ़ा दी और दिल्ली में पेट्रोल लगभग 67 रूपये प्रति लीटर हो गया। इससे दो माह पूर्व ही कंपनियों ने रसोई गैस पर 50 रूपये प्रति सिलेण्डर, डीजल पर 3 रूपये और कैरोसिन पर 2 रूपये प्रति

## ■ स्वदेशी संवाद

लीटर बढ़ोतरी की थी। ध्यातव्य है कि जुलाई 2010 में दिल्ली में पेट्रोल 43 रूपये प्रति लीटर बिकता था। इसी प्रकार डीजल और रसोई गैस भी अभी से बहुत सस्ती थी। हांलाकि पैट्रोलियम पदार्थों का बढ़ना कोई नई बात नही है। नया यह है कि पहले ये कीमतें सरकारी नियंत्रण में थी लेकिन जून 2010 से ये बाजारी नियंत्रण में चली गई।

16 सितम्बर 2011 को भारतीय रिजर्व बैंक ने मार्च 2010 से लगातार 12वीं बार रेपोरेट और रिवर्स रेपोरेट में 0.25 प्रतिशत की वृद्धि करते हुए उसे क्रमशः 8.25 प्रतिशत और 7.25 प्रतिषत कर दिया है। भारतीय रिजर्व बैंक का कहना है कि यह कदम लगातार बढ़ती महंगाई के मद्देनजर उठाया गया है। रेपोरेट वह ब्याज दर होती है, जिस पर बैंक रिजर्व बैंक से उधार लेते हैं। रिवर्स रेपोरेट वह ब्याज दर होती है, जिस पर बैंक अपना पैसा रिजर्व बैंक के पास जमा करते हैं।

भारतीय रिजर्व बैंक के द्वारा मात्र 17 से भी कम महीनों में 12 बार ब्याज दरों में बढ़ोत्तरी सीधे तौर पर संकुचनवादी मौद्रिक नीति मानी जा सकती है। सामान्यतौर पर माना जाता है कि महंगाई का प्रमुख कारण मांग में वृद्धि होता है। वस्तुओं की कम उपलब्धता और बढ़ती मांग कीमतों पर दबाव बनाती है, इसलिए रिजर्व बैंक परंपरागत तौर पर ब्याज दरों में वृद्धि कर कीमतों को शांत करने का प्रयास करता है। लेकिन विडंबना यह है कि इतने कम समय में ब्याज दरों में भारी वृद्धि के बावजूद कीमत वृद्धि थमने का नाम नहीं ले रही और अगस्त माह तक आते–आते पिछले वर्ष की तुलना में महंगाई 9.78 प्रतिशत तक बढ़ गई।

खाद्य पदार्थों में यह वृद्धि लगभग 10 से 13 प्रतिशत के बीच बनी हुई है। लेकिन रिजर्व बैंक की मृग–मिरीचिका का कोई अंत नहीं है।

### नीची ब्याज दरों के कारण विकास को मिली गति

यदि पिछले 12 वर्षों का हिसाब देखें तो पाते हैं कि कृषि की विकास दर कम होने के बावजूद अन्य क्षेत्रों में आमदनियां

बढ़ी और अर्थव्यवस्था की सकल संवृद्धि दर 6.5 से 9 प्रतिशत के बीच रही। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि इस दशक के पहले 6–7 वर्षों तक कीमतों में वृद्धि को काफी हद तक काबू में रखा जा सका। कीमतों में अपेक्षित नियंत्रण के चलते ब्याज दरें घटने लगी।

हालांकि घटती ब्याज दरों ने एक ऐसे वर्ग, जो ब्याज की आय पर आधारित था, को प्रभावित तो किया, लेकिन घटती ब्याज दरों ने देश में घरों, कारों, अन्य उपभोक्ता वस्तुओं इत्यादि की मांग में अभूतपूर्व वृद्धि की। कम ब्याज दरों के चलते सरकार द्वारा अपने पूर्व में लिए गए ऋणों पर ब्याज अदायगी पर भी अनुकूल असर पड़ा। हाऊसिंग, इन्फ्रास्ट्रक्चर और अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में तेजी से विकास होना शुरू हुआ और देश दुनिया की सबसे तेज बढ़ने वाली अर्थव्यवस्थाओं में चीन के बाद दूसरे स्थान पर आ गया।

यानि कहा जा सकता है कि भारत की आर्थिक संवृद्धि की गाथा में ब्याज दरों के घटने की एक प्रमुख भूमिका रही है।

## ब्याज दरों में वृद्धि का मध्यम वर्ग के लिए मतलब

आज बढ़ती आमदनियों के युग में मध्यम वर्ग, विशेषतौर पर मध्यम वर्गीय युवा अपने जीवन स्तर को ऊंचा उठाने की जुगत में रहता है। ऐसे में अच्छा और अपना घर, कार अथवा मोटर साईकिल और जीवन का अन्य साजो–समान खरीदने के लिए वह बैंकों से उधार लेता है और उसे किश्तों यानि ईएमआई से चुकाता है।

पश्चिमी देशों से आई इस पद्धति से जीवन स्तर तो बेहतर हुआ, लेकिन आम आदमी की देनदारियां भी बढ़ गई। यह देनदारियां सामान्यतः स्थिर ब्याज दर पर आधारित नहीं होती। बढ़ते ब्याज दर से ईएमआई भी बढ़ जाती है। ऐसे में मध्यम वर्ग की ईएमआई बढ़ते जाने से रोजमर्रा के लिए उसके पास आमदनी बहुत कम बचती है।

## पेट्रोलियम पदार्थों की कीमत और आदमी

सरकार का यह तर्क है कि तेल कंपनियों के बढ़ते घाटे के मद्देनजर पेट्रेलियम पदार्थों की कीमतों का बढ़ाना अवश्य है। लेकिन हमें यह भी समझना चाहिए कि पेट्रोलियम पदार्थ उपभोग का मात्र एक पदार्थ नहीं है। यह यातायात, उद्योग आदि के लिए एक कच्चा माल भी है। जाहिर है कि किसी भी उद्योग के कच्चे माल की कीमतों में वृद्धि होने पर उस उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें भी बढ़ जाती है। यानि बसों और यातायात के अन्य साधनों के किराये तो बढ़ेंगे ही साथ ही साथ वस्तुओं की उत्पादन लागत बढ़ने के कारण उनकी कीमतों में भी वृद्धि होगी।

## पेट्रोलियम कंपनियों को घाटे का झूठ

पहले सरकार आम व्यक्ति की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए पेट्रोलियम कीमतों को निर्धारित करती थी और पेट्रोलियम पदार्थों की कीमतें वर्ष में एक या दो बार से ज्यादा नहीं बढ़ाई जाती थी। और कभी कभी तो कच्चे तेल की कीमतों में कमी के चले पेट्रोलियम कीमत को कम भी किया गया। सरकार कीमतों को स्थिर रखने के लिए बजट में भारी प्रावधान करते हुए पेट्रोलियम कंपनियों को कोई बहुत बड़ी सहायता भी नहीं दे रही थी। पेट्रोलियम कंपनियों को यह निर्देश था कि वे घाटा होने की स्थिति में 'ऑयल बांड' निर्गमित करके उससे अपने घाटे की भरपाई करें।

सब जानते है कि अंतराष्ट्रीय बाजार में तेल की कीमतें लगातार एक जैसी नहीं रहती, कभी कीमतें बढ़ती है तो कभी कीमतें बहुत कम हो जाती है। पिछले एक वर्ष में अंतराष्ट्रीय बाजार में तेल की कीमतें 64 डॉलर प्रति बैरल से लेकर 90 डॉलर प्रति बैरल तक रिकॉर्ड की गई। यदि पिछले 2 वर्षों का हिसाब लें तो अंतराष्ट्रीय बाजार में कच्चे तेल की न्यूनतम कीमत 34.57 डॉलर प्रति बैरल रिकॉर्ड की गई। इसलिए पेट्रोलियम कंपनियों को पुरानी व्यवस्था यानि कीमतों पर सरकारी नियंत्रण में भी कोई नुकसान नहीं होता था।

यदि इन कंपनियों का हिसाब–किताब देखें तो वर्ष 2008–09 में ओ.एन.जी.सी को 16041 करोड़ रूपये, 'गैल' को 2814 करोड़ रूपये, इंडियन ऑयल को 2570 करोड़ रूपये और ऑयल इंडिया को 2166 करोड़ रूपये का लाभ हुआ।

वर्ष 2009–10 में यह लाभ और ज्यादा बढ़ता हुआ क्रमशः 16745 करोड़ रूपये, 3139 करोड़ रूपये, 10321 करोड़ रूपये और 2611 करोड़ रूपये हो गया। इन दोनों वर्षों में पुरानी व्यवस्था लागू थी। इसके अलावा एक अन्य रोचक बात यह है कि 217 सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों द्वारा जो 92593 करोड़ रूपये का लाभ हुआ, उसमें मात्र तेल कंपनियों द्वारा ही 32857 करोड़ रूपये का लाभ हुआ।

यानि कुल लाभ का 36 प्रतिशत मात्र पेट्रोलियम कंपनियों से ही प्राप्त हुआ। यानि पेट्रोलियम कंपनियों के नुकसान का तर्क सीधे तौर पर गलत सिद्ध होता है। एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि पेट्रोलियम पदार्थों पर करों से केन्द्र और राज्य सरकारों को लगभग 2 लाख करोड़ रूपये का राजस्व भी प्राप्त होता है। ऐसे में यदि पेट्रोलियम पदार्थों के वितरण में थोड़ा बहुत नुकसान भी हो तो भी सरकारें अपने इस राजस्व में से उसकी भरपाई आसानी से कर सकती हैं और सामान्य जन को महंगाई के इस आक्रमण से बचा सकती हैं।

## महंगी होती दवाईयां

देश की 1978 में घोषित दवा नीति के अनुसार विदेशी कंपनियों के कार्यकलापों पर कुछ अंकुश लगाये गये थे और भारतीय कंपनियों को वरीयता देने का प्रावधान भी उसमें शामिल था। 1979 के दवा मूल्य नियंत्रण आदेश के अनुसार 347 दवाईयों पर कीमत नियंत्रण का प्रावधान

लागू था। लेकिन हाल ही के वर्षों में विदेशी कंपनियों द्वारा भारतीय कंपनियों के अधिग्रहण के बाद इन प्रावधानों को कुंद किया जा रहा है और अब देश का दवा मूल्य नियंत्रण आदेश केवल 76 दवाओं तक ही सीमित है और इस कारण से आम आदमी को दवाईयो की अधिक कीमतें तो देनी ही पड़ रही हैं, साथ ही साथ दवाईयों के गैर जरूरी मिश्रण भी अब बढ़ते जा रहे हैं।

पिछले कुछ समय से बड़ी भारतीय दवा कंपनियों का विदेशी कंपनियों द्वारा तेजी से अधिग्रहण किया जा रहा है। कुछ वर्ष पूर्व देश की सबसे बड़ी दवा कंपनी 'रैनबैक्सी' को जापान की एक कंपनी 'डाइची सैन्क्यो' द्वारा खरीद लिया गया। उसके बाद 'मैट्रिक्स लैबोरेटरी' को अमेरिकी कंपनी 'माइलन', 'डाबर फार्मा' को सिंगापुर की कंपनी 'फ्रैसीनियस कैबी', 'शांता बायटैक' को फ्रांस की कंपनी 'सैनोफी एवेंतीस' और 'औरचिड कैमिक्लस' को अमेरिका की 'हौसपीरा' और 'पीरामल हैल्थ' केयर को अमेरिका की ही 'एबट लैबोरेटरी' द्वारा अधिग्रहित कर लिया गया। इसके अतिरिक्त कई भारतीय कंपनियों के विदेशी कंपनियों के साथ संयुक्त उपक्रम और अन्य समझौते भी हो रहे हैं।

जैसे – 'डॉ. रेडिज़' के साथ 'जीएसके' का; 'फाइजर' का तीन कंपनियों के साथ; एबट का 'कैडिला हेल्थ केयर' के साथ और 'एस्ट्रा जैनेका' का 'टोरेंट' के साथ समझौता हुआ है। ऐसे में एक बड़ा खतरा आ खड़ा हुआ है कि कहीं देश का सारा दवा उद्योग विदेशी कंपनियों के हाथ मे न चला जाए। इसके कारण देश में दवाईयां और ज्यादा महंगी होगी और आम आदमी के पहुंच से बाहर हो जायेंगी।

लेकिन शायद नीति–निर्माताओं की प्राथमिकता में आम आदमी नहीं है। जिस प्रकार से महंगाई बढ़ रही है लगता है कि सरकार का उस पर कोई अंकुश नहीं रह गया है। सरकार द्वारा कृषि की अनदेखी करने के कारण खाद्य पदार्थों की कीमतें तो लगातार बढ़ ही रही हैं। बढ़ते ब्याज की अदायगी, बढ़ते सरकारी ऋण और सरकारी घाटे को पूरा करने के लिए लगातार मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि महंगाई की आग में घी डालने का काम कर रही है।

ऐसे में ब्याज दरों में अंधा–धुंध वृद्धि देश के विकास की गति को थाम सकती है। अर्थव्यवस्था के कुप्रबंधन की यह पराकाष्ठा कही जा सकती है। जरूरी है कि सरकार महंगाई को रोकने में ब्याज दरों को बढ़ाने के अतिरिक्त और उपाय सोचे और पेट्रोलियम पदार्थों की कीमतों की बाजारी नियंत्रण की व्यवस्था को समाप्त करते हुए सरकारी नियंत्रण की नीति को पुनः प्रभावी करे।

## कुप्रबंधन बनाम सुप्रबंधन

स्पष्ट है कि पिछले कुछ वर्षों से यूपीए सरकार के द्वारा जो आर्थिक नीतियां अपनाई जा रही हैं, उससे महंगाई तो बढ़ी ही है साथ ही विकास की संभावनाएं भी उत्तरोत्तर कम हो रही हैं। आम आदमी केवल खाने–पीने की वस्तुओं की महंगाई से नहीं बल्कि पेट्रोल, डीजल और गैस की भयंकर रूप से बढ़ती कीमतों से भी त्रस्त हैं। एनडीए सरकार के समय में घटती ब्याज दरों के कारण जिन लोगों ने कम ईएमआई के आर्कषण में घर और अन्य साजो–समान खरीदे, अब बढ़ती हुई ईएमआई के कारण परेशान हैं।

कम ब्याज के कारण देश का इफ्रास्ट्रक्चर जो तेजी से विकास कर रहा था, अब थम सा गया है। अब नई सड़कों का निर्माण लगभग रूक गया है और जो एयरपोर्ट इत्यादि नये बन भी रहे हैं, भारी उपयोग शुल्क के कारण आम आदमी को सुविधा के बजाय बढ़ते वायु यातायात के किरायों के रूप में मुश्किल का सबब बन गये हैं।

विकास की ऊंची दर के लिए जरूरी है कि ब्याज दरों को नीचा रखा जाए। लेकिन बढ़ती महंगाई के दौर में यह बात मुश्किल हो जाती है। एक ओर तो रिजर्व बैंक को महंगाई पर काबू करने के लिए ब्याज दरों में वृद्धि करनी पड़ती है, तो दूसरी ओर ब्याज अर्जित करने वाले वर्ग को बचत करने और उसे बैंकों के पास जमा करने हेतु प्रेरित करने के लिए ब्याज दर को महंगाई की दर से ऊंचा रखना पड़ता है। इसलिए देश में आर्थिक संवृद्धि की दर को तेज करने के लिए ब्याज दरों को घटाना जरूरी है और ब्याज दरों को घटाने के लिए महंगाई पर काबू पाना जरूरी है।

देश का दवा उद्योग हो अथवा खुदरा व्यापार अथवा खनिज भंडार सभी विदेशियों को सौंपे जा रहे हैं। विदेशी निवेश आधारित विकास के पैरोकार आम आदमी की कठिनाईयों के प्रति पूर्णतया संवेदनहीन हो चुके हैं। भारी भ्रष्टाचार और अर्थव्यवस्था के कुप्रबंधन के मद्देनजर एक देशभक्त और ईमानदार सरकार की भारी आवश्यकता है। यदि खेती पर ध्यान देते हुए खाद्य वस्तुओं की आपूर्ति बढ़ा दी जाए, पेट्रोलियम कंपनियो पर अंकुश लगाते हुए पेट्रो कीमतों पर नियंत्रण हो और महंगाई पर काबू रखते हुए ब्याज दरों को नीचा रखा जाए तो भारत कहीं बेहतर ढंग से विकास के रास्ते पर चल सकता है।

दुनिया में भारत ही एक ऐसा देश है जो अपने विकास के लिए दुनिया के दूसरे मुल्कों से मांग पर आश्रित नहीं है। हमारी अभी तक की आर्थिक संवृद्धि घरेलू मांग से पोषित है। ऐसे में जब अमेरिका और यूरोप के देश आर्थिक दृष्टि से कमजोर हो रहे हैं, जिसके चलते चीन के निर्यातों की मांग घट रही है। यदि हम अपनी अर्थव्यवस्था का प्रबंधन ठीक प्रकार से कर सके तो भारत प्रगति की राह पर निरंतर बढ़ता जायेगा। सरकार को विदेशी निवेश के मोह को त्यागते हुए देश की प्रज्ञा और युवाओं के कौशल पर विश्वास दिखाते हुए अर्थव्यवस्था को एक नई दिशा देनी होगी। ❑

# अब सेहत पर बढ़ता संकट

**भारत खाद्य प्रसंस्करण इकाइयों के स्वागत में पलक–पांवड़े बिछा रहा है। योजना–आयोग ने 10वीं और 11वीं पंचवर्षीय योजनाओं में खाद्य प्रसंस्करण इकाइयों के लिए डेढ़ लाख करोड़ रुपए का प्रावधान किया है। ऐसी इकाइयों की स्थापना के लिए भारी अनुदान दिया जा रहा है। यही नहीं, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय राष्ट्रीय नीतियों में उद्योग जगत के हितों के अनुरूप संशोधन कर रहा है। हाइब्रिड बीज, कृषि उपकरण, रासायनिक खाद और कृषि ऋण के क्षेत्र में भारी अनुदान दिया जा रहा है। बैंक, बीज उत्पादक कंपनियां, उत्पादक इकाइयां और रिटेल चेन कंपनियां आपस में गठजोड़ कर नया कृषि ढांचा तैयार कर रहे हैं। इस मुहिम में कृषि वैज्ञानिक भी शामिल हो गए हैं. . .**

■ देविन्दर शर्मा

बीते महीने मैं चंडीगढ से नई दिल्ली आते आए रास्ते में अंबाला के पास कुछ किसानों से मिलने के लिए रुक गया। एक छोटे किसान राजेन्द्र दहिया ने गर्व से बताया कि उन्होंने कुछ दिन पहले ही एक कॉफी हाउस में 160 रुपए में कॉफी पी।

मैं समझ सकता हूँ कि राजेंद्र दहिया के लिए एक कप कॉफी के लिए 160 रुपए खर्च करना कितना मुश्किल रहा होगा। घर पर यह दस रुपए से भी कम बन जाती है। दरअसल, इस सबके पीछे बड़ी कंपनियों की जबरदस्त मार्केटिंग रणनीति है। इसकी आंच से कोई नहीं बच पाता। कृषि व्यापार जानता है कि किस तरह लोगों की जीभ को कब्जे में लिया जाए और फिर उन्हें उनके उत्पादों की लत डाल दी जाए। खूबसूरत पैकेजिंग और आक्रामक मार्केटिंग के बल पर खाने–पीने की नई आदतें डाली जा रही है।

कंपनियां हमें जो खिलाना चाहती है वह लगभग जबरन खिलाने में कामयाब हो रही है। जब तक हम यह समझते हैं, हमारा परंपरागत स्थानीय पौष्टिक भोजन थाली से गायब हो जाता है।

खाने की बदलती आदतों के दायरे में पूरा खाद्य तंत्र आ गया है। इसलिए मैं अमेरिका के अहिंसक आंदोलन–वालस्ट्रीट पर कब्जा करो में खाद्य आंदोलन से जुड़े एनजीओ, समुदाय समूह और किसानों द्वारा भाग लेने से हैरान नहीं हूँ। अमेरिकी सामाजिक कार्यकर्ता एरिक होल्ट ने अपने निबंध 'खाद्य तंत्र' पर कब्जा करो' में भूख, जीवनशैली से जुड़ी बीमारियों और वालस्ट्रीट के निवेशकों व उद्यमियों की असीम शक्ति के बीच संबंध सिद्ध किया है।

यह संबंध साफ–साफ दिखाई दे रहा है। बड़ी–बड़ी कंपनियां भारत में प्रवेश के लिए जबरदस्त लॉबिंग कर रही है। इनमें वाल–मार्ट स्टोर्स, स्टारबक्स और वित्तीय सेवा प्रदाता जैसे मोर्गन स्टेनले

**बहुराष्ट्रीय कंपनियां जैसे फाइजर, डाउ केमिकल्स और टेलीकॉम की दिग्गज कंपनी एटीएंडटी अपने भारत में अपने व्यवसाय के विस्तार के लिए प्रयासरत है। अमेरिका में बच्चों में बढ़ते मोटापे से चिंतित प्रथम महिला मिशेल ओबामा ने पहले ही कुछ कंपनियों को अमेरिका से चलता कर दिया है। उन कंपनियों ने भारत में घुसने का प्रयास तेज कर दिया है।**

**एक ऐसे समय जब विश्व फिर से खाद्य संकट के मुहाने पर खड़ा है और जीवनशैली से संबंधित बीमारियां तेजी से बढ़ती जा रही है, अब वक्त आ गया है कि हम अपनी खाद्य आदतों को बदलें। इससे भी महत्वपूर्ण उस सोच को बदलना है, जो परंपरागत खाद्य और प्राकृतिक कृषि व्यवस्था से दूर ले जा रही है। देश की 99 प्रतिशत आबादी को सचेत होना होगा। उनके भोजन पर खतरा मंडरा रहा है।**

शामिल हैं।

कुछ अन्य विशाल बहुराष्ट्रीय कंपनियां जैसे फाइजर, डाउ केमिकल्स और टेलीकॉम की दिग्गज कंपनी एटीएंडटी अपने भारत में अपने व्यवसाय के विस्तार के लिए प्रयासरत है। अमेरिका में बच्चों में बढ़ते मोटापे से चिंतित प्रथम महिला मिशेल ओबामा ने पहले ही कुछ कंपनियों को अमेरिका से चलता कर दिया है। उन कंपनियों ने भारत में घुसने का प्रयास तेज कर दिया है।

यह सब ऐसे समय में हो रहा है जब भारत खाद्य प्रसंस्करण इकाइयों के स्वागत में पलक–पांवड़े बिछा रहा है। योजना–आयोग ने 10वीं और 11वीं पंचवर्षीय योजनाओं में खाद्य प्रसंस्करण इकाइयों के लिए डेढ़ लाख करोड़ रुपए का प्रावधान किया है। ऐसी इकाइयों की स्थापना के लिए भारी अनुदान दिया जा रहा है। यही नहीं, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय राष्ट्रीय नीतियों में उद्योग जगत के हितों के अनुरूप संशोधन कर रहा है। हाइब्रिड बीज, कृषि उपकरण, रासायनिक खाद और कृषि ऋण के क्षेत्र में भारी अनुदान दिया जा रहा है। बैंक, बीज उत्पादक कंपनियां, उत्पादक इकाइयां और रिटेल चेन कंपनियां आपस में गठजोड़ कर नया कृषि ढांचा तैयार कर रहे हैं। इस मुहिम में कृषि वैज्ञानिक भी शामिल हो गए हैं।

उनका कहना है कि भारत में महज दो प्रतिशत खाद्यान्न का ही प्रसंस्करण होता है। वे यह नहीं बताते कि अमेरिका में जहां से यह विचार आयातित किया गया है, जंक फूड धीमे जहर में तब्दील हो गए हैं। अमेरिका में हर साल चार लाख से अधिक लोग मोटापे और इससे जुड़े रोगों के कारण मर जाते हैं।

इसकी शुरुआत करीब चार दशक पहले हरित क्रांति से हुई थी। कृषि अनुसंधान, कृषि नीतियां, ऋण आपूर्ति, अनुदान और प्रौद्योगिकी आदि के बल पर अधिक पैदावार वाली फसलों की किस्मों को प्रोत्साहित किया गया, जिनमें भारी मात्रा में रासायनिक खाद और कीटनाशकों का इस्तेमाल होता था। तबसे प्रौद्योगिकी को वित्तीय पैकेज मिलना शुरू हो गया, जिससे किसान इसकी तरफ ललचाने लगे। पिछले कुछ सालों में रासायनिक खाद को और लोकप्रिय बनाने के लिए

**पिछले कुछ सालों में रासायनिक खाद को और लोकप्रिय बनाने के लिए अनुदान दिया गया, किंतु जैविक तरीकों से होने वाली खेती पर कोई अनुदान नहीं दिया गया। यह देखकर मुझे बड़ी हैरानी होती है कि बैंक संकर जाति की नस्लों की गायों के लिए तो ऋण देने के लिए तत्पर रहते है, जबकि देसी गायों के लिए नहीं। श्वेत क्रांति के 40 साल से अधिक होने के बाद अब जाकर राष्ट्रीय डेयरी विकास (एनडीडीबी) को देसी गायों के फायदे का अहसास हुआ है।**

**हानिकारक प्रसंस्करित खाद्य पदार्थों का जितना सेवन बढ़ेगा, उतना ही अधिक अर्थव्यवस्था को लाभ होगा। ज्यादा से ज्यादा लोग बीमार पड़ेंगे तो दवा और स्वास्थ्य उद्योग को उतना ही अधिक फायदा होगा। दूसरे शब्दों में फार्मास्यूटिकल उद्योग का विकास सीधे–सीधे खाद्य उद्योग पर निर्भर करता है। इसी के साथ जुड़ा है स्वास्थ्य बीमा का बड़ा कारोबार। इस तरह खाद्य, स्वास्थ्य और बीमा उद्योग का भविष्य एक–दूसरे से जुड़ा है। यह हैरत का विषय नहीं है कि अमेरिका में बीमा उद्योग हर साल खाद्य क्षेत्र में करीब दस हजार करोड़ रुपए निवेश करता है। कारण स्पष्ट है। खाना जितना अधिक दूषित होगा, बीमा उद्योग को उतना ही फायदा होगा।**

अनुदान दिया गया, किंतु जैविक तरीकों से होने वाली खेती पर कोई अनुदान नहीं दिया गया।

यह देखकर मुझे बड़ी हैरानी होती है कि बैंक संकर जाति की नस्लों की गायों के लिए तो ऋण देने के लिए तत्पर रहते है, जबकि देसी गायों के लिए नहीं। श्वेत क्रांति के 40 साल से अधिक होने के बाद अब जाकर राष्ट्रीय डेयरी विकास (एनडीडीबी) को देसी गायों के फायदे का अहसास हुआ है।

इसी प्रकार खाद्य प्रसंस्करण उद्योग के कुछ बड़े खिलाड़ियों ने औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खाने–पीने की आदतों को बदल डाला हैं भूरे पौष्टिक चावल के स्थान पर सफेद पोलिश्ड चावल, गुड़ व भूरी शक्कर के स्थान पर सफेद चीनी का चलन है। ये दोनों औद्योगिक उत्पाद बढ़ती डायबिटीज और जीवनशैली से जुड़ी अन्य बीमारियों में योगदान दे रहे हैं। अमेरिकी विशाल खाद्य कंपनियों के भारत में प्रवेश से उपभोक्ताओं के पास पौष्टिक खाद्य पदार्थों के विकल्प और भी कम हो जाएंगे।

उदाहरण के लिए केवल अमेरिका में वालमार्ट के स्टोर में औसतन 40 हजार खाद्य उत्पाद सजे होते हैं और इसमें हैरानी नहीं होनी चाहिए कि इसीलिए यह देश स्वास्थ्य महामारी के संकट का सामना कर रहा है। हानिकारक प्रसंस्करित खाद्य पदार्थों का जितना सेवन बढ़ेगा, उतना ही अधिक अर्थव्यवस्था को लाभ होगा। ज्यादा से ज्यादा लोग बीमार पड़ेंगे तो दवा और स्वास्थ्य उद्योग को उतना ही अधिक फायदा होगा। दूसरे शब्दों में फार्मास्यूटिकल उद्योग का विकास सीधे–सीधे खाद्य उद्योग पर निर्भर करता है। इसी के साथ जुड़ा है स्वास्थ्य बीमा का बड़ा कारोबार। इस तरह खाद्य, स्वास्थ्य और बीमा उद्योग का भविष्य एक–दूसरे से जुड़ा है। यह हैरत का विषय नहीं है कि अमेरिका में बीमा उद्योग हर साल खाद्य क्षेत्र में करीब दस हजार करोड़ रुपए निवेश करता है। कारण स्पष्ट है। खाना जितना अधिक दूषित होगा, बीमा उद्योग को उतना ही फायदा होगा।

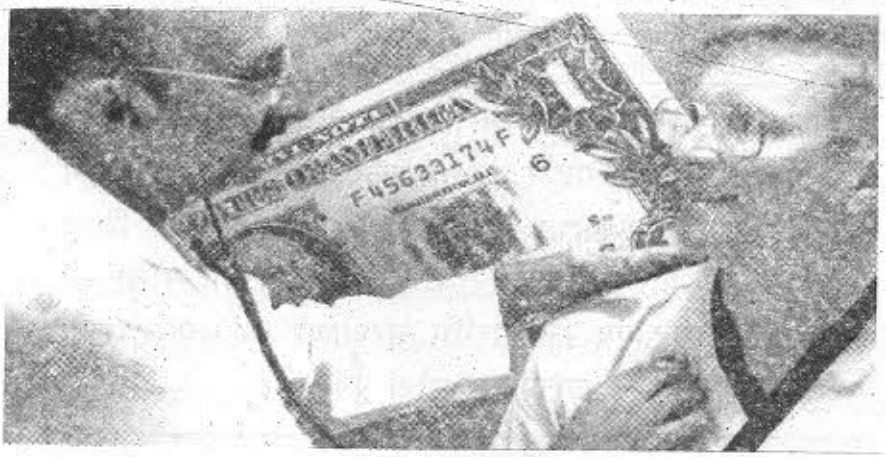

खाद्य आपूर्ति करने वाले संस्थान और इससे संबंधित नियम कॉरपोरेशनों द्वारा नियंत्रित होते हैं। विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष, मुक्त व्यापार समझौते और वाल स्ट्रीट (शेयर बाजार) नियमों को परिभाषित करते हैं। वाल स्ट्रीट से खाद्य को असंबद्ध करना बड़ी चुनौती है। इससे टिकाऊ विकल्पों के आधार पर निपटा जा सकता है। साथ ही घर पर बने भोजन और स्वस्थ जीवनशैली पर लौटना होगा। एक ऐसे समय जब विश्व फिर से खाद्य संकट के मुहाने पर खड़ा है और जीवनशैली से संबंधित बीमारियां तेजी से बढ़ती जा रही है, अब वक्त आ गया है कि हम अपनी खाद्य आदतों को बदलें। इससे भी महत्वपूर्ण उस सोच को बदलना है, जो परंपरागत खाद्य और प्राकृतिक कृषि व्यवस्था से दूर ले जा रही है। देश की 99 प्रतिशत आबादी को सचेत होना होगा। उनके भोजन पर खतरा मंडरा रहा है। ❑

# आम आदमी का बढ़ता असंतोष

जाड़े में सिगड़ी रख कर सोने से आराम मिलता है, परंतु मृत्यु भी हो जाती है। उसी प्रकार पूंजी–सघन आर्थिक विकास से कुल उत्पादन बढ़ रहा है, परंतु संपूर्ण मानवता मृतप्राय होती जा रही है। आर्थिक विकास पर लगाम लगाकर मानव विकास को लक्ष्य बनाना होगा। इसका एक तरीका श्रम–सघन उद्योगों को प्रोत्साहन देना है। मनमोहन सिंह एवं बराक ओबामा को समझना होगा कि बड़ी कंपनियों के कंधे पर वे आम आदमी के असंतोष को नहीं थाम पाएंगे।

■ डॉ. भरत झुनझुनवाला

विकसित देशों का आम आदमी उद्वेलित है। अमेरिका में सैकड़ों लोग वाल स्ट्रीट के सामने पार्क में धरना दिए बैठे हैं। ऑस्ट्रेलिया के मेलबर्न शहर के सिटी स्क्वायर में तथा सिडनी में रिजर्व बैंक ऑफ ऑस्ट्रेलिया के सामने धरने चल रहे हैं। एथेंस, टोक्यो, मनीला, ताइपे, सियोल एवं हांगकांग में भी लोग ऐसे ही धरने पर बैठे हुए हैं। संपूर्ण विकसित दुनिया का आम आदमी उद्वेलित है। कारण है बेरोजगारी और असमानता।

ये युवा समझ रहे हैं कि दुनिया के बैंकरों और शेयर ब्रोकरों ने लालच के चलते पहले बढ़–चढ़कर सौदे किए, फिर इन सौदों में घाटा खाया और अपने साथ संपूर्ण विश्व अर्थव्यवस्था को मंदी के दौर में धकेल दिया है। लोगों की मांग है कि सरकार इन वित्तीय संस्थाओं पर नकेल कसे, परंतु सरकारें इन्हें उत्तरोत्तर पोस रही हैं।

यह सही है कि विकसित देशों के वर्तमान आर्थिक संकट का तात्कालिक कारण अमेरिका के लेहमन ब्रदर्स जैसे बैंकों द्वारा सट्टेबाजी एवं ग्रीस जैसी सरकारों द्वारा ऋण लेकर फिजूलखर्ची करना है, परंतु यह समस्या का मौलिक कारण नहीं है। लेहमन ब्रदर्स जैसे बैंक इसलिए फेल हुए हैं कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था में अपेक्षित विकास नहीं हुआ। अमेरिकी कंपनियों को लाभ कम होने से वे श्रमिकों को कम संख्या में रोजगार दे रही हैं और सरकार को टैक्स भी कम दे रही हैं। ग्रीस जैसी सरकारें ऋण के भार से इसलिए दब गईं, क्योंकि कंपनियों को अपेक्षित लाभ नहीं हुए और उनके द्वारा टैक्स कम अदा किए गए। अतः बैंकरों पर दोषारोपण उचित नहीं है। होटल जर्जर हो तो मुसाफिर के न आने को मैनेजर के व्यवहार पर थोपना अनुचित होता है। इसी प्रकार खस्ताहाल अर्थव्यवस्था को बैंकरों पर थोपना अनुचित है। यह एकतरफा आरोप है।

युवा समझ रहे हैं कि दुनिया के बैंकरों और शेयर ब्रोकरों ने लालच के चलते पहले बढ़–चढ़कर सौदे किए, फिर इन सौदों में घाटा खाया और अपने साथ संपूर्ण विश्व अर्थव्यवस्था को मंदी के दौर में धकेल दिया है। लोगों की मांग है कि सरकार इन वित्तीय संस्थाओं पर नकेल कसे, परंतु सरकारें इन्हें उत्तरोत्तर पोस रही हैं।

असल समस्या है कि आम आदमी के रोजगार समाप्त हो रहे हैं, जबकि बैंकरों और अमीरों की आय बढ़ रही है। यह समस्या विकासशील देशों में उतनी ही है जितनी कि विकसित देशों में। अन्ना हजारे के आंदोलन के समर्थन में उठा जनसैलाब इस अंदरूनी असंतोष का द्योतक है। माओवादी आंदोलन भी इस असंतोष की एक कड़ी है। मूल समस्या मध्यधारा अर्थशास्त्र की ट्रिकल डाउन थ्योरी में निहित है।

सोच है कि आर्थिक विकास से अमीरों की आय बढ़ेगी तो गरीबों के घर में भी उस आय का एक अंश रिसेगा। बैंकर की आय तब ही बढ़ेगी जब उसके द्वारा खरीदे गए शेयर के दाम बढ़ेंगे। शेयर के दाम तब ही बढ़ेंगे जब उत्पादन बढ़ेगा। उत्पादन बढ़ाने में अधिक संख्या में श्रमिकों की जरूरत होगी। इस प्रकार अमीरों की आय का एक हिस्सा गरीबों तक पहुंचेगा। इस थ्योरी के आधार पर अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने संकटग्रस्त बैंकों की मदद की थी। इसी सोच के चलते प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह बड़ी कंपनियों को खुली छूट देने को तत्पर हैं।

ट्रिकल डाउन थ्योरी में समस्या है कि उत्पादन बढ़ाने को रोजगार सृजन आवश्यक नहीं है। उद्यमियों के लिए

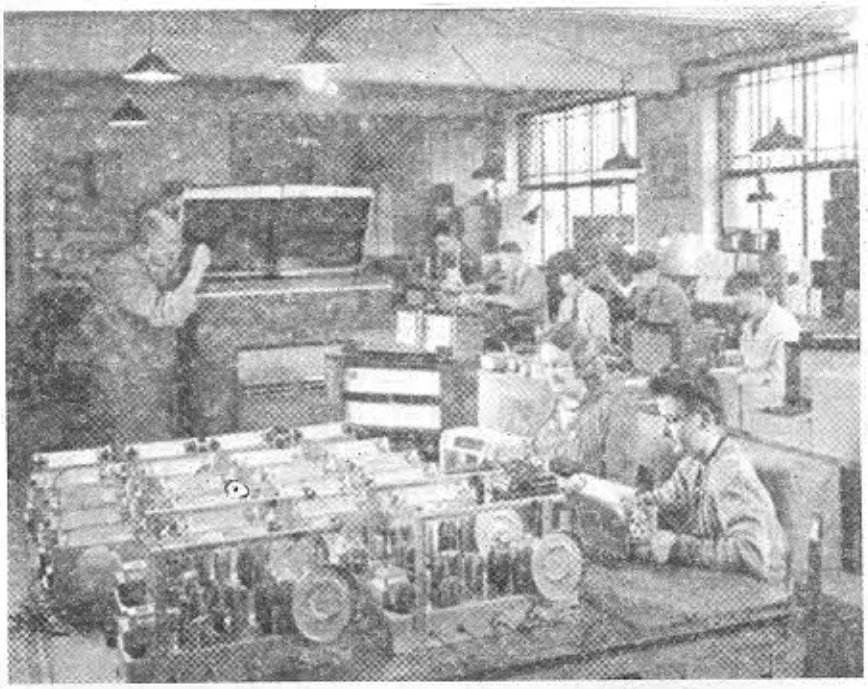

लाभप्रद है कि वे ऑटोमैटिक मशीनों से उत्पादन बढ़ाएं। ऐसे में कंपनियों का लाभ एवं उत्पादन बढ़ता है, परंतु रोजगार घटते हैं। यह आर्थिक विकास की सहज प्रक्रिया है। विकास के कारण लोग समृद्ध होते हैं। उनके पास उपलब्ध पूंजी बढ़ती है। पूंजी की अधिकता के कारण ब्याज दर में गिरावट आती है।

ब्याज दर में कमी आने से मशीनों में निवेश लाभप्रद हो जाता है। दूसरी तरफ उसी आर्थिक विकास से श्रमिकों का जीवन स्तर उठता है। उनके वेतन बढ़ते हैं। इससे श्रमिकों को रोजगार देना हानिप्रद हो जाता है।

आर्थिक विकास का तार्किक परिणाम है कि रोजगार घटेंगे और बेरोजगारी बढ़ेगी। विकसित देशों की समस्या ज्यादा गहरी है, क्योंकि ये वैश्वीकरण से भी त्रस्त हैं। विकसित देशों की कंपनियों के लिए लाभप्रद हो गया है कि वे गरीब देशों में उत्पादन करके माल का आयात करें। अमेरिका की मशहूर रिटेल कंपनी वालमार्ट लगभग 80 प्रतिशत खरीद चीन एवं दूसरे गरीब देशों से कर रही है। ये रोजगार अमेरिका से चीन को हस्तांतरित हो रहे हैं। इसी प्रकार आईटी क्षेत्र में रोजगार भारत को हस्तांतरित हो रहे हैं।

अमेरिकी कंपनियां महंगे अमेरिकी इंजीनियरों को बर्खास्त करके सस्ते भारतीय इंजीनियरों को रोजगार दे रही हैं। अतः विकसित देशों के आम आदमी पर दोहरी मार पड़ रही है। ट्रिकल डाउन न होने से नए रोजगार सृजित नहीं हो रहे हैं। ऊपर से उपलब्ध रोजगार गरीब देशों को हस्तांतरित हो रहे हैं। दूसरी ओर बैंकरों और कंपनियों के लाभ दिनोंदिन बढ़

**ऐसी अर्थव्यवस्था बनानी होगी कि श्रम की मांग बढ़े और हर परिवार को जीविकोपार्जन और आत्म–विकास के संसाधन उपलब्ध हों। सुझाव है कि पूंजी सघन आर्थिक विकास के स्थान पर श्रम सघन आर्थिक विकास हासिल करना होगा। मशीनों पर टैक्स और श्रम पर सब्सिडी देनी होगी। इससे आर्थिक विकास धीमा पड़ेगा जिसे स्वीकार करना होगा।**

रहे हैं। कारण यह कि इनका कारोबार पूरे विश्व में फैल गया है। उद्यमी ऑटोमैटिक मशीनों से चीन में उत्पादन करें तो कंपनी, शेयर ब्रोकर एवं बैंकर सभी को लाभ होता है, जबकि विकसित देश का आम आदमी मारा जाता है।

वर्तमान में संपूर्ण विश्व में जो असंतोष दिख रहा है उसकी मूल समस्या ऑटोमैटिक मशीनों का उपयोग एवं वैश्वीकरण है, न कि बैंकरों की सट्टेबाजी। आपदा में कोई व्यवसायी आलू महंगा बेचकर लाभ कमाए तो इस बिक्री को आपदा का कारण नहीं बताया जा सकता है। इसी प्रकार ऑटोमैटिक मशीनों के उपयोग एवं रोजगार के गरीब देशों को हस्तांतरण से बढ़ रही बेरोजगारी को बैंकरों पर थोपना अनुचित है।

अर्थशास्त्रियों को नए ढंग से सोचना पड़ेगा। ऑटोमैटिक मशीनों एवं इंटरनेट के कारण ही श्रम अप्रासंगिक होता जा रहा है। एक प्रकार से यह एक सुखद उपलब्धि है। मनुष्य को जीवित रहने के लिए श्रम करना अनिवार्य नहीं रह गया है। समय का सदुपयोग वह अपने आत्म विकास के लिए कर सकता है, जैसे क्रिकेट खेलने, चित्रकारी करने, संगीत का रियाज करने में, परंतु श्रम के साथ–साथ उसका जीवन भी व्यर्थ होता जा रहा है। आत्म विकास करने को आवश्यक संसाधन उसके पास नहीं हैं। ऐसी अर्थव्यवस्था बनानी होगी कि श्रम की मांग बढ़े और हर परिवार को जीविकोपार्जन और आत्म विकास के संसाधन उपलब्ध हों। सुझाव है कि पूंजी सघन आर्थिक विकास के स्थान पर श्रम सघन आर्थिक विकास हासिल करना होगा। मशीनों पर टैक्स और श्रम पर सब्सिडी देनी होगी। इससे आर्थिक विकास धीमा पड़ेगा जिसे स्वीकार करना होगा। जाड़े में सिगड़ी रख कर सोने से आराम मिलता है, परंतु मृत्यु भी हो जाती है। उसी प्रकार पूंजी–सघन आर्थिक विकास से कुल उत्पादन बढ़ रहा है, परंतु संपूर्ण मानवता मृतप्राय होती जा रही है। आर्थिक विकास पर लगाम लगाकर मानव विकास को लक्ष्य बनाना होगा। इसका एक तरीका श्रम–सघन उद्योगों को प्रोत्साहन देना है।

**असल समस्या है कि आम आदमी के रोजगार समाप्त हो रहे हैं, जबकि बैंकरों और अमीरों की आय बढ़ रही है। यह समस्या विकासशील देशों में उतनी ही है जितनी कि विकसित देशों में। अन्ना हजारे के आंदोलन के समर्थन में उठा जनसैलाब इस अंदरूनी असंतोष का द्योतक है।**

मनमोहन सिंह एवं बराक ओबामा को समझना होगा कि बड़ी कंपनियों के कंधे पर वे आम आदमी के असंतोष को नहीं थाम पाएंगे। ❑

## :: सूचना ::

**स्वदेशी पत्रिका सम्राज्यवाद के खिलाफ एक सशक्त आवाज है। पत्रिका को ऐसे लोगों से प्रतिक्रियाएं, रिपोर्ट या आलेख की अपेक्षा है जो राष्ट्रहित में सोचते हैं और देश के स्वावलम्बन के लिए कुछ करने की इच्छा रखते है। जरूरी नहीं कि आप पत्रकार या लेखक ही हों, अपने आसपास से जुड़ी चीजों के प्रति आपकी संवदेना है और आप शब्दों में उसे लिख सकते है तो हमें अवश्य लिख भेजें। साथ ही स्वदेशी पत्रिका में छपे लेख आपको कैसे लगते हैं, क्या आप इसमें कुछ नए विषयों का समायोजन चाहते हैं कृपया हमें अवश्य अवगत कराएं। आपके विचारों को हम प्राथमिकता के साथ प्रकाशित करने का भी प्रयास करेंगे।**

हमारा पता है :–

संपादक

**स्वदेशी पत्रिका**

'धर्मक्षेत्र', सेक्टर–8, बाबू गेनू मार्ग, रामकृष्णपुरम्, नयी दिल्ली–110022

# जरूरत है स्वास्थ्य चिकित्सा पर ध्यान देना

**योजना आयोग ने करीब डेढ़ दशक पूर्व संयुक्त मोर्चा सरकार के दौरान यह विचार दिया था कि देशभर में देसी पद्धति के करीब साढ़े छह लाख चिकित्सक हैं जिनका उपयोग किया जाए। पर यह विचार अब न जाने कहां विलुप्त हो गया है। कोई भी देश जितना ज्यादा अपनी आवश्यकताओं के मामले में स्वावलंबी होगा उसका भविष्य उतना ही अधिक सुरक्षित होगा और यह स्वास्थ्य सुविधाओं पर भी लागू होता है।**

■ अवधेश कुमार

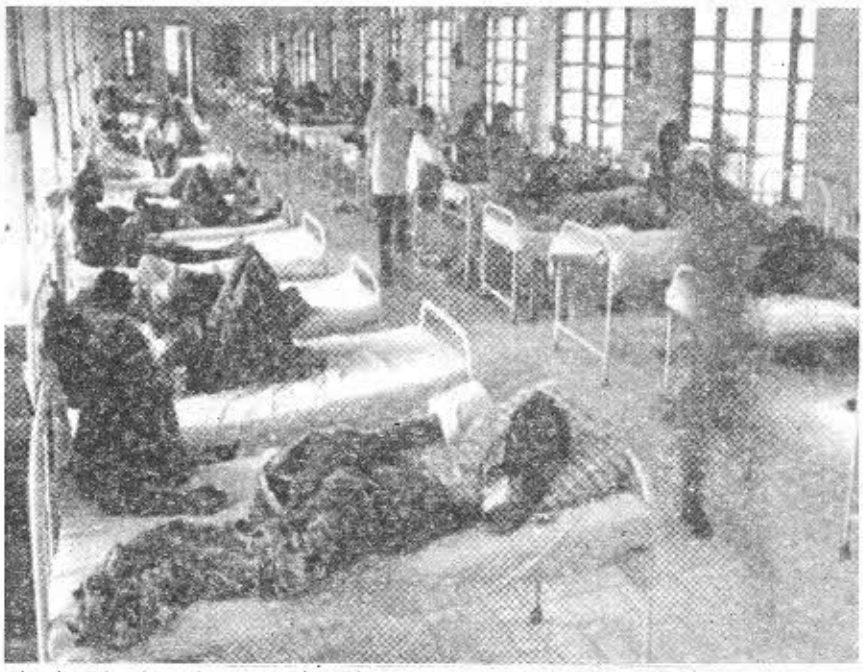

स्वास्थ्य हमारे जीवन का प्राथमिक विषय है पर इससे संबंधित निर्णयों और रिपोर्टों पर काफी कम बहस सुनने–देखने को मिलती है। हाल में स्वास्थ्य से संबंधित दो ऐसी रिपोर्ट सामने आई जिन पर व्यापक चर्चा होनी चाहिए थीं पर ऐसा हुआ नहीं। सबसे पहले विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा जारी विश्व स्वास्थ्य 2011 रिपोर्ट में भारत के संबंध में कई चिंताजनक तथ्य पेश किए गए।

उदाहरण के तौर पर विश्व स्वास्थ्य संगठन प्रति एक हजार की जनसंख्या पर एक डॉक्टर की उपस्थिति अनिवार्य मानता है, जबकि हमारे यहां आज दस हजार की आबादी पर महज 6 डॉक्टर ही उपलब्ध हैं। इसके अलावा योजना आयोग द्वारा सभी के लिए स्वास्थ्य के लक्ष्य हासिल करने के उपाय बताने वाली समिति ने गांवों के लिए मेडिकल का अलग पाठ्यक्रम सुझाया जिसे सरकार ने स्वीकार भी कर लिया है। इसके मुताबिक पांच साल की एमबीबीएस की बजाय साढ़े तीन साल का बैचलर ऑफ रूरल मेडिसिन एंड सर्जरी यानी बीआरएमएस की डिग्री दी जाएगी। इस हेतु पांच लाख से ज्यादा आबादी वाले जिलों में अलग से मेडिकल कॉलेज खोले जाएंगे।

समिति ने ऐसी करीब 187 कॉलेज खोलने की सिफारिश की है। योजना आयोग के मुताबिक 2028 तक विश्व स्वास्थ्य के मानक यानी प्रति एक हजार की आबादी पर 1 डॉक्टर का लक्ष्य हासिल कर लेंगे। पहली नजर में यह योजना आकर्षित करती है, क्योंकि अभी तक स्वास्थ्य सेवाओं से ग्रामीण क्षेत्र लगभग अछूते थे। अगर यह योजना अमल में आती है तो अब गांव के लोगों को समुचित स्वास्थ्य सेवा के अभाव का सामना नहीं करना पड़ेगा।

ऐसे कई सर्वेक्षण आ चुके हैं जिनमें गांवों की गरीबी का एक कारण बीमारी के इलाज पर हुआ बेतहाशा खर्च बताया गया है और यह सच भी है।

अगर गांव केंद्रित चिकित्सा की

**सबसे पहले विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा जारी विश्व स्वास्थ्य 2011 रिपोर्ट में भारत के संबंध में कई चिंताजनक तथ्य पेश किए गए। उदाहरण के तौर पर विश्व स्वास्थ्य संगठन प्रति एक हजार की जनसंख्या पर एक डॉक्टर की उपस्थिति अनिवार्य मानता है, जबकि हमारे यहां आज दस हजार की आबादी पर महज 6 डॉक्टर ही उपलब्ध हैं।**

**एलोपैथ केंद्रित ढांचा अंग्रेजों ने खड़ा किया है और जिसे हमने एकमात्र स्वास्थ्य प्रणाली मानकर सशक्त किया आज हम सबको लीलता जा रहा है। सामान्य बीमारी के उपचार के लिए भी हम स्वावलंबी नहीं रहे और हमें डॉक्टर एवं महंगी दवाईयों पर निर्भर रहना पड़ता है। चीन जैसे देश ने अपनी देसी चिकित्सा प्रणाली को सशक्त करके स्वास्थ्य समस्याओं का काफी हद तक समाधान करने में सफलता हासिल की है।**

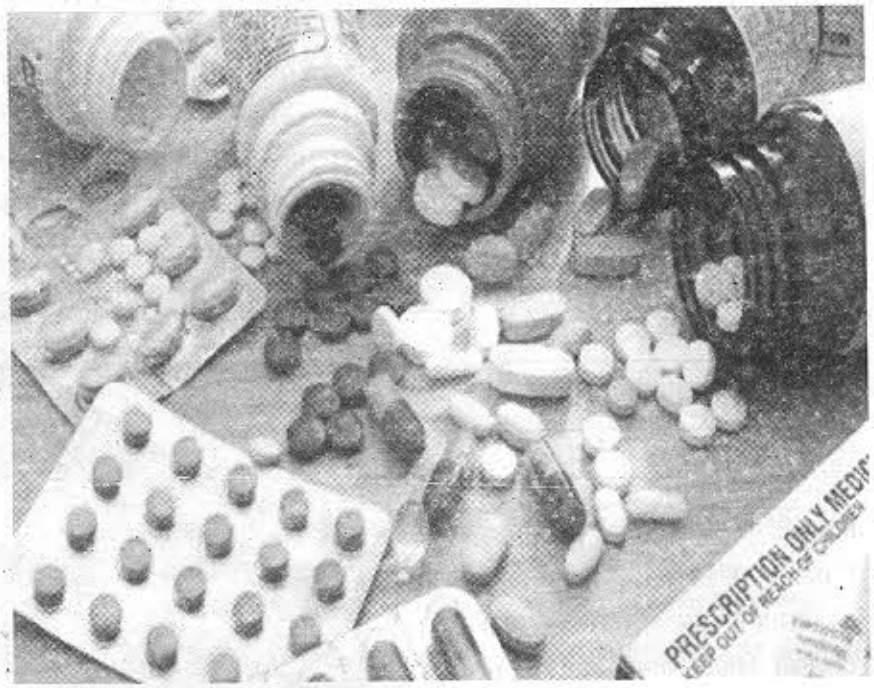


पढ़ाई होगी तो डिग्री लेने वाले डॉक्टरों के सामने गांवों में प्रैक्टिस करने या सरकारी अस्पतालों में सेवा देने का ही एकमात्र विकल्प उपलब्ध होगा। इससे डॉक्टर बहाना बनाकर गांवों से कन्नी नहीं काट सकेंगे, लेकिन भारत की सामाजिक–आर्थिक–सांस्कृतिक स्थिति को समझने वाले इसे पर्याप्त नहीं मानते।

स्वास्थ्य राज्यों का विषय है, लेकिन राज्य अपने संसाधनों से ऐसे मेडिकल कॉलेज खोलेंगे यह उनके विवेक व संसाधन पर निर्भर करेगा।

यह घोर आपत्तिजनक है कि इस योजना में गांवों और शहरों के स्वास्थ्य सेवाओं में भेद किया गया है। यह बात समझ से परे है कि शहर के लोगों के लिए तो पांच वर्ष के पाठ्यक्रम वाले डिग्रीधारी चाहिए और गांवों के लिए साढ़े तीन वर्ष वाले डॉक्टर। शहरों के लिए सर्वसुविधासंपन्न मेडिकल कॉलेज चाहिए और गांवों के लिए उससे कमतर एक सामान्य मानक वाले मेडिकल कॉलेज।

इस तरह के विचार के खिलाफ तो किसी भी संवेदनशील व्यक्ति का अंतर्मन विद्रोह कर उठेगा, लेकिन योजना आयोग की इस सोच में कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है। इस सोच का आधार यह अनुभव है कि शहरों में शिक्षा प्राप्त डॉक्टर गांवों के अस्पतालों में न नौकरी करना चाहते हैं और न स्थायी प्रैक्टिस। इस बारे में तमाम सरकारी कोशिशें भी अब तक विफल ही हुई हैं। इस तरह योजना आयोग की समिति ने गांवों के कल्याण के लिए ही यह रास्ता निकाला है।

वस्तुतः यह वर्तमान स्वास्थ्य ढांचे में रास्ता निकालने की वैसी ही कोशिश है जैसे किसी स्थान पर केवल पंचतारा होटल का ही भोजन उपलब्ध है और भूख ज्यादा लोगों को है तो प्रबंधन वाले यह विकल्प दें कि उत्कृष्ट भोजन कुछ विशिष्ट लोगों को अवश्य मिले, लेकिन बाकी के लिए थोड़ा कम बेहतर या जीने लायक भोजन भी उपलब्ध कराया जाए। होना तो यह चाहिए कि पंचतारा समाप्त हो और सबको एक जैसा भोजन उपलब्ध कराया जाए।

यह हमारा दुर्भाग्य है कि योजना आयोग अथवा हमारे नीतिनिर्माता आज तक यह नहीं समझ पाए हैं कि समस्या इसी स्वास्थ्य ढांचे में ही मौजूद है।

उपचार की हर पैथी की अपनी कमियां और विशेषताएं हैं पर एलोपैथी प्रणाली का विकास जिन देशों से हुआ उनकी सामाजिक–आर्थिक–सांस्कृतिक परिस्थितियां हमारे देश से बिल्कुल भिन्न थीं। औद्योगिक क्रांति एवं पूंजीवाद के साथ वे लगभग शहरी समाज वाले देश बन चुके थे और आज वे मूलतः शहर केंद्रित देश हैं इसलिए यह पूरा ढांचा शहर अभिमुख और अत्यधिक व्यय आधारित है। इस पद्धति में लोकतांत्रिक तत्व गायब हैं और व्यवहार में यह शत–प्रतिशत निरंकुशता का पर्याय है।

इसमें बीमार व्यक्ति अथवा उसके शुभचिंतकों के विवेक और समझ का कोई स्थान नहीं है और जो डॉक्टर या अस्पताल प्रबंधन कहे वही ब्रह्मवाक्य।

दवाओं और अन्य उपचारों के द्वारा

**विश्व स्वास्थ्य संगठन का आंकड़ा केवल एलोपैथिक डॉक्टरों के संदर्भ में है और इसकी वकालत के पीछे दुनियाभर के औषधि सहित अन्य स्वास्थ्य सामग्रियां उपलब्ध कराने वाली कितनी कंपनियों की लॉबिंग होती है यह किसी से छिपा नहीं। हमारे यहां आयुर्वेदिक डॉक्टर से लेकर यूनानी, प्राकृतिक, योग, होमियोपैथ तक के चिकित्सक हैं। यह अलग बात है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन इनकी गणना नहीं करता।**

यह हम सबको बिल्कुल परावलंबी बना देता है। इसमें अपने स्वास्थ्य को ठीक करने के लिए स्वयं कुछ करने की गुंजाइश ही नहीं होती। यह प्रणाली इतनी खर्चीली है कि भारत जैसे देश में सबको स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराना किसी सरकार के बूते की बात नहीं।

स्वास्थ्य पर काम करने वालों ने राजधानी दिल्ली स्थित अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान के बजट से कई राज्यों के स्वास्थ्य बजट की तुलना करके बताया है कि हमारे अनेक बड़े राज्यों का कुल स्वास्थ्य बजट भी इतना नहीं है। इतनी खर्चीली प्रणाली को सबके लिए सुलभ करा पाना संभव भी नहीं है और इसकी आवश्यकता भी नहीं है।

निजी सुविधा वाले अस्पतालों में इस देश के बड़े वर्गों के लिए जा पाने की हैसियत नहीं। दरअसल इसकी संरचना ही ऐसी है कि व्यवहार में आप केवल शुल्क देने तक सीमित हो जाते हैं। आपके रिश्तेदार तक जब चाहें आपसे नहीं मिल सकते। यह व्यवस्था भारत की प्रकृति के विरुद्ध है। वास्तव में भारत की स्वास्थ्य समस्याओं के समाधान का रास्ता इस ढांचे में नहीं है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन का आंकड़ा केवल एलोपैथिक डॉक्टरों के संदर्भ में है और इसकी वकालत के पीछे दुनियाभर के औषधि सहित अन्य स्वास्थ्य सामग्रियां उपलब्ध कराने वाली कितनी कंपनियों की लॉबिंग होती है यह किसी से छिपा नहीं। हमारे यहां आयुर्वेदिक डॉक्टर से लेकर यूनानी, प्राकृतिक, योग, होमियोपैथ तक के चिकित्सक हैं। यह अलग बात है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन इनकी गणना नहीं करता।

वस्तुतः हमें उस मानक की जगह अपनी आवश्यकता, उपलब्धता, सांस्कृतिक परंपरा, लोगों की आर्थिक स्थिति व उनकी क्षमता के अनुरूप स्वास्थ्य ढांचा खड़ा करने पर विचार करना चाहिए। हजारों वर्षों की हमारी जीवन यात्रा में स्वस्थ रहने और बीमार के उपचार को आसान बनाने के लिए सर्वसुलभ पद्धतियां व उपाय विकसित हुए हैं।

एलोपैथ केंद्रित ढांचा अंग्रेजों ने खड़ा किया है और जिसे हमने एकमात्र स्वास्थ्य प्रणाली मानकर सशक्त किया आज हम सबको लीलता जा रहा है। सामान्य बीमारी के उपचार के लिए भी हम स्वावलंबी नहीं रहे और हमें डॉक्टर एवं महंगी दवाईयों पर निर्भर रहना पड़ता है। चीन जैसे देश ने अपनी देसी चिकित्सा प्रणाली को सशक्त करके स्वास्थ्य समस्याओं का काफी हद तक समाधान करने में सफलता हासिल की है। हमारे पास भी इसके अलावा कोई विकल्प नहीं है।

देसी प्रणाली की औषधियों की सामग्रियां गांवों, जंगलों, पहाड़ों, नदियों में उपलब्ध होता है। इसका चरित्र ही ग्रामोन्मुखी है। उसमें शहर और गांवों के लिए अलग से कोई प्रणाली या ढांचा खड़ा करने की आवश्यकता नहीं। एक प्रणाली के रूप में एलोपैथ की उपयोगिता है, क्योंकि अनेक आकस्मिक स्वास्थ्य समस्याओं के तंत्र उसी के पास हैं इसलिए इसका होना जरूरी है, लेकिन एकमात्र इसी ढांचे तक स्वास्थ्य सेवाओं को समेट देना आत्मघाती रवैया है।

योजना आयोग ने करीब डेढ़ दशक पूर्व संयुक्त मोर्चा सरकार के दौरान यह विचार दिया था कि देशभर में देसी पद्धति के करीब साढ़े छह लाख चिकित्सक हैं जिनका उपयोग किया जाए। पर यह विचार अब न जाने कहां विलुप्त हो गया है। कोई भी देश जितना ज्यादा अपनी आवश्यकताओं के मामले में स्वावलंबी होगा उसका भविष्य उतना ही अधिक सुरक्षित होगा और यह स्वास्थ्य सुविधाओं पर भी लागू होता है। ❑

# सात अरब होने पर मचा हौवा

**सवाल यह है कि इनका उचित उपयोग धरती पर जीवन की रक्षा के लिए होगा, या यह क्षमताएं चंद निहित स्वार्थ की गिरफ्त में कैद होकर रह जाएंगी। यह सवाल सदैव हमारे सामने थे पर तेज जनसंख्या वृद्धि के मौजूदा दौर में इनकी संजीदगी पहले से कहीं अधिक बढ़ गई है। पहले से चली आ रही गलतियों व विकृतियों को दूर करने में और देर की गई तो पर्यावरण विनाश, गरीबी, अभाव और इससे जुड़े असंतोष व हिंसा की स्थिति नियंत्रण से बाहर हो जाने का खतरा है।**

■ भारत डोगरा

तेज जनसंख्या वृद्धि कोई हौवा नहीं है बल्कि यह मानव इतिहास का एक विशेष दौर है जिसमें हमें विशेष जिम्मेदारी व सावधानी से जीना होगा। मनुष्य की क्षमताएं असीमित हैं। सवाल यह है कि इनका उचित उपयोग धरती पर जीवन की रक्षा के लिए होगा, या यह क्षमताएं चंद निहित स्वार्थ की गिरफ्त में कैद होकर रह जाएंगी। यह सवाल सदैव हमारे सामने थे पर तेज जनसंख्या वृद्धि के मौजूदा दौर में इनकी संजीदगी पहले से कहीं अधिक बढ़ गई है।

विश्व जनसंख्या के नवीनतम आंकड़ों के अनुसार धरती पर हम लोगों की तादाद सात अरब हो गई है। 1999 में हम छह अरब हुए थे और अब 12 वर्ष बाद हम सात अरब हैं। इस समय एक वर्ष में 8 करोड़ 30 लाख लोग दुनिया से नए जुड़ते हैं। यह आंकड़ा जन्म दर से मृत्यु दर घटा कर प्राप्त किया जाता है। आगे के लिए संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोष का अनुमान यह है कि 2050 में विश्व की जनसंख्या बढ़कर 900 करोड़ तक पहुंच जाएगी। लेकिन इन आंकड़ों का उपयोग प्रायः इस ढंग से किया जाता है जैसे कोई बड़ी आफत आ गई है या आने वाली है।

विश्व जनसंख्या के नवीनतम आंकड़ों के अनुसार धरती पर हम लोगों की तादाद सात अरब हो गई है। 1999 में हम छह अरब हुए थे और अब 12 वर्ष बाद हम सात अरब हैं। इस समय एक वर्ष में 8 करोड़ 30 लाख लोग दुनिया से नए जुड़ते हैं। यह आंकड़ा जन्म दर से मृत्यु दर घटा कर प्राप्त किया जाता है। आगे के लिए संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोष का अनुमान यह है कि 2050 में विश्व की जनसंख्या बढ़कर 900 करोड़ तक पहुंच जाएगी।

वास्तव में जनसंख्या वृद्धि को लेकर स्थिति ऐसी नहीं है। कुल मिलाकर दुनिया में प्रति परिवार बच्चों की संख्या में कमी आ रही है और संयुक्त राष्ट्र को उम्मीद है कि 2050 के आसपास लगभग 900 करोड़ के आंकड़े पर पहुंचकर विश्व जनसंख्या में स्थिरता आ जाएगी। इतना ही नहीं, उसके कुछ समय बाद इसमें कमी आनी भी शुरू हो सकती है। यह प्रवृत्ति ऐसे अनेक देशों के अनुभव के अनुकूल है जिनमें एक विशेष दौर में जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई तथा उसके बाद वहां की जनसंख्या में स्थिरता आ गई या इसमें कुछ कमी भी आने लगी।

हालांकि इन संभावनाओं से कई किंतु–परंतु जुड़े हैं पर कुल मिलाकर यह भविष्य में जनसंख्या वृद्धि की अभी तक उपलब्ध सबसे मान्य तस्वीर है।

फिलहाल इतना निश्चित है कि इस समय हम विश्व स्तर पर तेज जनसंख्या वृद्धि के दौर से गुजर रहे हैं और इस दौर की विशेष चुनौतियों का सामना हमें बहुत समझदारी से करना होगा अन्यथा कई स्तरों पर विश्व की समस्याएं और विकट हो सकती हैं। यह समय बहुत गंभीर पर्यावरण समस्याओं और विशेषकर जलवायु बदलाव का है। बढ़ती जनसंख्या के इस दौर में ही हमें ग्रीनहाउस गैसों, विशेषकर कार्बन डायआक्साईड के उत्सर्जन में तेजी से कमी लानी है। यह कार्य कठिन जरूर है पर असंभव नहीं है।

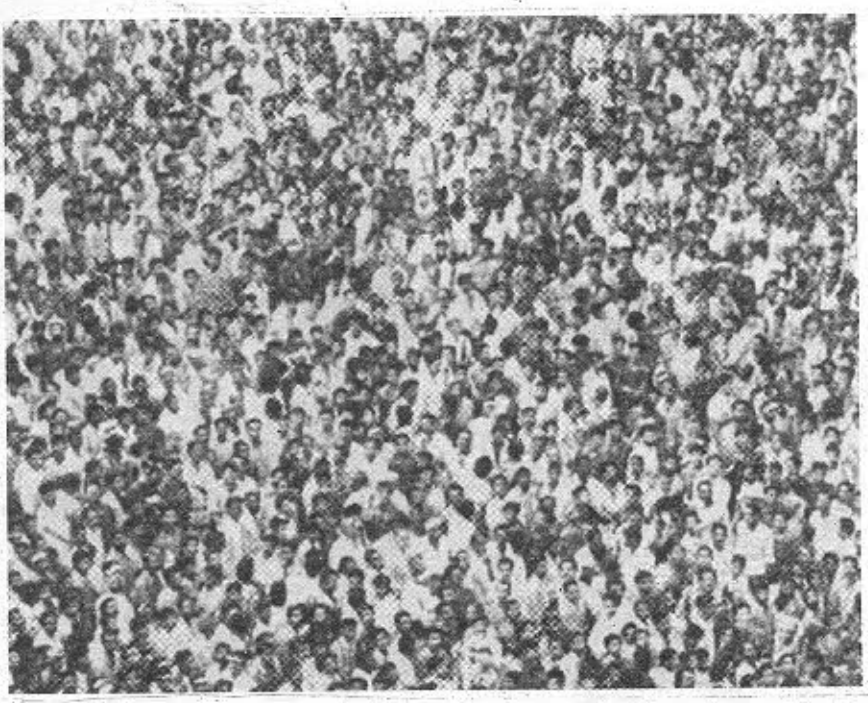

जनसंख्या के परिप्रेक्ष्य में देखें तो वास्तविकता यह है कि कई गरीब देशों में जहां जन्मदर अधिक है वहां प्रति व्यक्ति कार्बन डायआक्साईड का उत्सर्जन बहुत कम है। दूसरी ओर अधिक धनी व औद्योगिक देशों में, जहां वि की मात्र 20 प्रतिशत जनसंख्या रहती है, इस गैस का मानवीय गतिविधियों पर आधारित उत्सर्जन 80 फीसद तक है। स्पष्ट है कि इस संदर्भ में मुख्य भूमिका जनसंख्या कम करने की उतनी नहीं है जितनी कि धनी औद्योगिक देशों की जीवनशैली व ऊर्जा उपयोग में इस तरह के बदलाव लाने की है, जिससे ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन में महत्वपूर्ण कमी आ सके। इसके साथ विकासशील व गरीब देशों के धनी लोगों को भी अपनी जीवनशैली में जरूरी बदलाव लाने होंगे। अधिक जनसंख्या वृद्धि का बड़ा क्षेत्र वे गरीब और विकासशील देश हैं, जहां पहले ही बड़ी संख्या में लोग बुनियादी जरूरतों से वंचित हैं। ऐसे में यदि उन लोगों की बुनियादी जरुरतों को पूरा करने को उच्चतम प्राथमिकता नहीं दी गई तो अभाव और गरीबी की स्थिति हाथ से बाहर निकल जाएगी और व्यापक स्तर पर असंतोष उत्पन्न होगा। तेजी से बढ़ती जनसंख्या के इस दौर में पर्यावरण की रक्षा और गरीबी दूर करने का एक ही रास्ता है कि धनी देशों से आर्थिक संसाधनों को गरीब देशों की ओर इस तरह मोड़ा जाए जिससे एक ओर तो पर्यावरण की क्षति करने वाली जीवनशैली बदले तथा दूसरी ओर सभी लोगों की बुनियादी जरुरतें पूरी हो सकें।

**विश्व स्तर पर तेज जनसंख्या वृद्धि के दौर से गुजर रहे हैं और इस दौर की विशेष चुनौतियों का सामना हमें बहुत समझदारी से करना होगा अन्यथा कई स्तरों पर विश्व की समस्याएं और विकट हो सकती हैं। यह समय बहुत गंभीर पर्यावरण समस्याओं और विशेषकर जलवायु बदलाव का है। बढ़ती जनसंख्या के इस दौर में ही हमें ग्रीनहाउस गैसों, विशेषकर कार्बन डायआक्साईड के उत्सर्जन में तेजी से कमी लानी है। यह कार्य कठिन जरूर है पर असंभव नहीं है।**

अब मूल सवाल यह है कि समय रहते विषमताविलासिता को कम करने व समता– सादगी को बढ़ाने की इस राह को अपनाया जा सकेगा या नहीं। जनसंख्या वृद्धि के दौर में सबसे बड़ा सवाल विकास के मॉडल को सही करना है, जिससे दुनिया समता और सादगी की राह पर चलकर पर्यावरण की रक्षा व गरीबी दूर करने का लक्ष्य प्राप्त कर सके।

जनसंख्या वृद्धि की चर्चा प्रायः मात्र परिवार नियोजन व गर्भ निरोधक उपायों के संदर्भ में ही होती है। यह अत्यंत सीमित सोच है। इस अति सीमित सोच के कारण ही जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करने के प्रयास भी विफल होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि मौजूदा दौर में परिवार नियोजन जरूरी है। छोटे परिवारों का स्वागत होना चाहिए और यह प्रवृत्ति बढ़ भी रही है। पर जनसंख्या का सवाल महज

व्यावहारिक स्तर पर परिवार नियोजन अभी भी एक व्यापक समझ पर आधारित कार्यक्रम नहीं बन पाया है। तेज जनसंख्या वृद्धि कोई हौवा नहीं है बल्कि यह मानव इतिहास का एक विशेष दौर है जिसमें हमें विशेष जिम्मेदारी व सावधानी से जीना होगा। मनुष्य की क्षमताएं असीमित हैं।

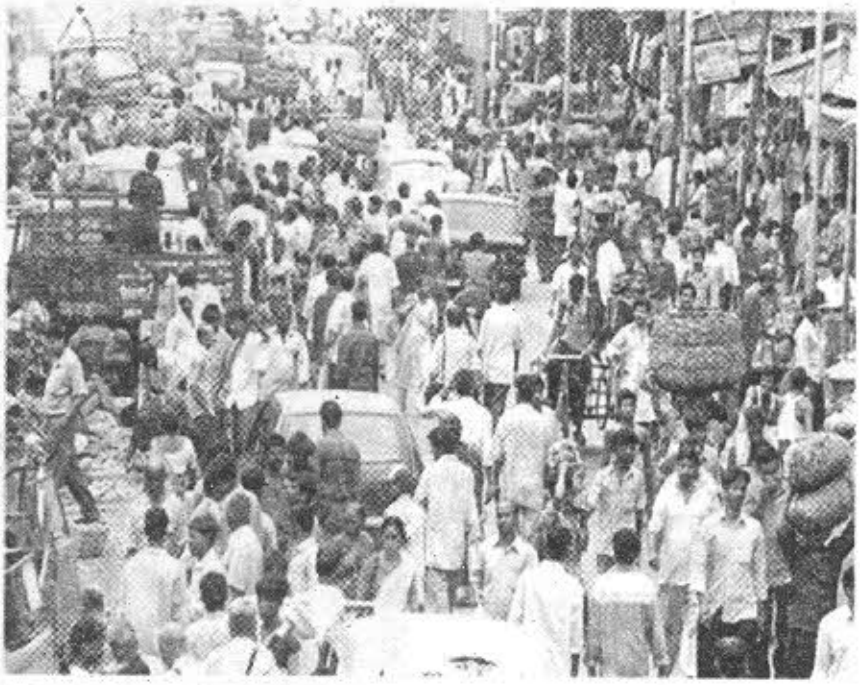

परिवार नियोजन व गर्भ निरोधकों की उपलब्धि तक निश्चित ही सीमित नहीं है। यह तो इस महत्वपूर्ण मुद्दे की बहुत संकीर्ण अभिव्यक्ति होगी।

सबसे महवपूर्ण बात तो यह है कि जनसंख्या वृद्धि के इस दौर में न्यायसंगत व पर्यावरण रक्षा की नीतियों की ओर बढ़ना अब पहले से भी कहीं और जरूरी हो गया है। इस तरह जनसंख्या के सवाल को विकास के व्यापक सवालों से जोड़कर ही देखना–समझना चाहिए। यदि जन्म–दर को सही व स्थायी ढंग से कम करना है तो इसके लिए स्वास्थ्य सेवाओं और शिक्षा में व्यापक सुधार बेहद जरूरी है। केवल परिवार नियोजन की सुविधाएं फैलाने से ही काम नहीं चलेगा। महिलाओं की शिक्षा व प्रगति का जन्मदर में कमी लाने में अति महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है।

ऐसा नहीं है कि सरकारी स्तर पर इस व्यापकता की जरूरत की समझ नहीं है। कई अनुसंधानों के आधार पर ऐसी समझ तो स्थापित हो चुकी है पर व्यावहारिक स्तर पर परिवार नियोजन अभी भी एक व्यापक समझ पर आधारित कार्यक्रम नहीं बन पाया है। तेज जनसंख्या वृद्धि कोई हौवा नहीं है बल्कि यह मानव इतिहास का एक विशेष दौर है जिसमें हमें विशेष जिम्मेदारी व सावधानी से जीना होगा। मनुष्य की क्षमताएं असीमित हैं। सवाल यह है कि इनका उचित उपयोग धरती पर जीवन की रक्षा के लिए होगा, या यह क्षमताएं चंद निहित स्वार्थ की गिरफ्त में कैद होकर रह जाएंगी। यह सवाल सदैव हमारे सामने थे पर तेज जनसंख्या वृद्धि के मौजूदा दौर में इनकी संजीदगी पहले से कहीं अधिक बढ़ गई है। पहले से चली आ रही गलतियों व विकृतियों को दूर करने में और देर की गई तो पर्यावरण विनाश, गरीबी, अभाव और इससे जुड़े असंतोष व हिंसा की स्थिति नियंत्रण से बाहर हो जाने का खतरा है। इसलिए तेज जनसंख्या वृद्धि के इस दौर को विशेष सावधानी और समझदारी से संभालना व निहित स्वार्थ के असर से मुक्त होकर समता व सादगी की राह को अपनाना इस समय की सबसे बड़ी चुनौती है। तेज जनसंख्या वृद्धि को हौवा कतई नहीं बनाना चाहिए, अपितु इसके अनुकूल नीतियों को अपनाने पर ध्यान केंद्रित किया जाना चाहिए। ❑

सबसे महवपूर्ण बात तो यह है कि जनसंख्या वृद्धि के इस दौर में न्यायसंगत व पर्यावरण रक्षा की नीतियों की ओर बढ़ना अब पहले से भी कहीं और जरूरी हो गया है। इस तरह जनसंख्या के सवाल को विकास के व्यापक सवालों से जोड़कर ही देखना–समझना चाहिए। यदि जन्म–दर को सही व स्थायी ढंग से कम करना है तो इसके लिए स्वास्थ्य सेवाओं और शिक्षा में व्यापक सुधार बेहद जरूरी है। केवल परिवार नियोजन की सुविधाएं फैलाने से ही काम नहीं चलेगा।

# बीस साल पुराना सवाल

**अगली पीढ़ी के लिए मूल्यवान और कम प्रदूषण फैलाने वाले विकास के लिए सही संकेतक क्या हैं? इस मूल मुद्दे का अब तक कोई समाधान नहीं निकल पाया है। दूसरी रूपरेखा के तौर पर विश्व को समान अधिकारों और सबके लिए वैश्विक वायुमंडलीय स्थान के हक की मांग उठानी चाहिए। इससे ऐसी दशाओं का निर्माण होगा, जो बेलगाम उपभोग और उत्पादन का सीमांकन करेंगी।**

■ सुनीता नारायण

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण एवं विकास सम्मेलन के रूप में अर्थ समिट की बीसवीं वर्षगांठ पर अगले साल जून में विश्व के नेता ब्राजील के खुशनुमा शहर रियो डि जेनेरियो में जमा होंगे। यकीन नहीं होता कि स्टॉकहोम सम्मेलन को 40 साल बीत चुके हैं, जब पर्यावरण के सवाल ने पहली बार विश्व का ध्यान अपनी तरफ खींचा था। स्टॉकहोम सम्मेलन में भाग लेने वाले नेताओं में विकासशील देशों से एकमात्र इंदिरा गांधी ही थीं। तब विकासशील देश इस नतीजे पर नहीं पहुंच पा रहे थे कि उनके लिए पर्यावरण के क्या मायने हैं, उनके खुद के विकास में संसाधनों की कितनी आवश्यकता पड़ेगी और उनका विकास किस प्रकार प्रदूषण बढ़ाएगा। इंदिरा गांधी की प्रसिद्ध उक्ति–गरीबी ही सबसे बड़ा प्रदूषण है, की कई तरह से विवेचना की जा चुकी है।

1992 में रियो में विकासशील देश इस मुद्दे पर सचेत हुए और उन्होंने टिकाऊ विकास में अपनी हिस्सेदारी की मांग सामने रखी। इस घटना के बीस साल बाद सम्मेलन ऐसे समय होगा जब वैश्विक गतिविधियां नाजुक दौर से गुजर रही हैं। अमेरिका में फिर से मंदी की आशंका, यूरोप में कर्ज का संकट, तेल की आसमान छूती कीमतें – ये तमाम पहलू विकास के मॉडल पर पुनर्विचार के लिए विवश कर रहे हैं। संपदा सृजन के लिए उपभोगवाद को बढ़ावा देने वाले इस मॉडल और निरंतरता के प्रति इसमें निहित चुनौती में क्या अंतरसंबंध हैं?

आज हम जानते हैं कि वित्तीय दबाव का मूल कारण विकास और उपभोग में वृद्धि के लिए सस्ता उत्पादन और सस्ते ऋण हैं। विश्व ने ऐसा विकास मॉडल विकसित नहीं किया जो लोगों की इच्छाओं और क्रय शक्ति के अनुरूप हो। ऐसा मॉडल सबकी जरूरत है। विकास की राह पर तेजी से बढ़ता विश्व सीख रहा है कि इस प्रकार के विकास की सीमाएं

**1992 में रियो में विकासशील देश इस मुद्दे पर सचेत हुए और उन्होंने टिकाऊ विकास में अपनी हिस्सेदारी की मांग सामने रखी। इस घटना के बीस साल बाद सम्मेलन ऐसे समय होगा जब वैश्विक गतिविधियां नाजुक दौर से गुजर रही हैं। अमेरिका में फिर से मंदी की आशंका, यूरोप में कर्ज का संकट, तेल की आसमान छूती कीमतें – ये तमाम पहलू विकास के मॉडल पर पुनर्विचार के लिए विवश कर रहे हैं।**

हैं। यह संभव नहीं है कि पहले से ही विकसित दुनिया की जीवनशैली पृथ्वी के अस्तित्व से समझौता किए बिना कायम रखी जा सके। इस प्रकार की सीमाओं के कारण विश्व को पृथ्वी का साथ देना होगा, तभी टिकाऊ और सर्वसमावेशी विकास संभव हो पाएगा। विश्व अपने विकास के लाभ को गंवाने के खतरे का सामना कर रहा है। गरीबों को जिंदा रहने के लिए जद्दोजहद करनी पड़ रही है। किसी भी प्राकृतिक आपदा की सबसे अधिक गाज उन्हीं पर पड़ती है। विकास निवेश के लाभ अब खत्म हो गए हैं। इसलिए एक तरफ, विश्व को नए विकास प्रतिमानों की फिर से खोज करनी होगी, क्योंकि अब विकास के पुराने मॉडल की लागत भारी पड़ने लगी है।

दूसरी तरफ, विकास की अवधारणा का भी पुनर्निर्धारण करना होगा, क्योंकि यह पृथ्वी को नुकसान पहुंचा रही है। ऐसी जटिल परिस्थितियों में किस प्रकार की भूमंडलीय रूपरेखा बनाई जानी चाहिए? सर्वप्रथम, एक समावेशी और प्रदूषण रहित विश्व के लिए हमें संपन्नता की पैमाइश के नए आर्थिक संकेतकों की आवश्यकता है। अब यह स्वीकार करने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है कि आर्थिक विकास के पैमाने के तौर पर सकल घरेलू उत्पाद उचित और टिकाऊ विकास की सही तस्वीर पेश नहीं करता। कुशलता के संकेतक के तौर पर भूटान ने संपत्ति के बजाय सकल राष्ट्रीय प्रसन्नता के पैमाने को अपना लिया है।

2008 में, आर्थिक प्रदर्शन के वर्तमान उपायों की अपर्याप्तता पर चिंता प्रकट करते हुए फ्रांस के राष्ट्रपति निकोलस सरकोजी ने सामाजिक प्रगति और आर्थिक प्रदर्शन के मापक आयोग की स्थापना की थी। आर्थिक पैमाने का चुनाव महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह नए आलोक में सामाजिक प्रगति और आर्थिक प्रदर्शन का आकलन करता है।

किंतु सवाल यह है कि अगली पीढ़ी के लिए मूल्यवान और कम प्रदूषण फैलाने वाले विकास के लिए सही संकेतक क्या हैं? इस मूल मुद्दे का अब तक कोई समाधान नहीं निकल पाया है।

दूसरी रूपरेखा के तौर पर विश्व को समान अधिकारों और सबके लिए वैश्विक वायुमंडलीय स्थान के हक की मांग उठानी चाहिए। इससे ऐसी दशाओं का निर्माण होगा, जो बेलगाम उपभोग और उत्पादन का सीमांकन करेंगी। विश्व का वायुमंडलीय बजट साझा होना चाहिए।

इसमें हिस्सेदारी से उपभोग और उत्पादन के स्वरूप में परिवर्तन से संबंधित महत्वपूर्ण आर्थिक चुनाव के लिए सही दशाओं के निर्माण का मार्ग प्रशस्त होगा। सीमाओं की ऐसी स्वीकार्यता विश्व के लिए एक महत्वपूर्ण आर्थिक–राजनीतिक दिशा–निर्धारक का काम करेगी।

अगर हम इसे स्थान नहीं दे सके तो वर्तमान अरक्षणीय आर्थिक विकास मॉडल से छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं होगा। तीसरी रूपरेखा के तौर पर क्या हम हरित ऊर्जा की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। इसके लिए क्या हमारे पास वैकल्पिक ऊर्जा के इस्तेमाल को बढ़ावा देने के लिए

**विश्व अपने विकास के लाभ को गंवाने के खतरे का सामना कर रहा है। गरीबों को जिंदा रहने के लिए जद्दोजहद करनी पड़ रही है। किसी भी प्राकृतिक आपदा की सबसे अधिक गाज उन्हीं पर पड़ती है। विकास निवेश के लाभ अब खत्म हो गए हैं। इसलिए एक तरफ, विश्व को नए विकास प्रतिमानों की फिर से खोज करनी होगी, क्योंकि अब विकास के पुराने मॉडल की लागत भारी पड़ने लगी है।**

आर्थिक प्रोत्साहन देने की शक्ति है? विकास गतिविधियों में कम कार्बन उत्सर्जन की ओर बढ़ने के लिए नई अक्षय ऊर्जा में भारी–भरकम निवश की आवश्यकता पड़ेगी।

इसी प्रकार वितरण प्रणाली को भी सुधारना होगा, जिससे ऊर्जा की बर्बादी को रोका जा सके। चुनौती वाकई बहुत बड़ी है। विश्व की एक बहुत बड़ी आबादी आज भी ऊर्जा के साधनों तक अपनी पहुंच नहीं बना पाई है। विश्व को ऐसे ऊर्जा विकल्प तलाशने हैं, जो सस्ते होने के साथ–साथ टिकाऊ भी हों।

भविष्य में कम कार्बन उत्सर्जन वाली ऊर्जा लाभ इस प्रणाली को आर्थिक प्रोत्साहन देने के साथ मिल सकता है, जो

**ऊर्जा की बर्बादी को रोका जा सके। चुनौती वाकई बहुत बड़ी है। विश्व की एक बहुत बड़ी आबादी आज भी ऊर्जा के साधनों तक अपनी पहुंच नहीं बना पाई है। विश्व को ऐसे ऊर्जा विकल्प तलाशने हैं, जो सस्ते होने के साथ–साथ टिकाऊ भी हों।**

अक्षय तकनीक पर आधारित अधिक महंगी ऊर्जा की बढ़ी लागत के अंतर को पाट सकता है। बहुत से देश इस प्रणाली को अपना चुके हैं।

भारत में ऊर्जा असुरक्षा भी है और ऊर्जा लागत भी ऊंची हैं, जबकि उपभोक्ता गरीब हैं। भारत के संदर्भ में सही उपाय यह है कि कीमतें घटाने के लिए सस्ती ऊर्जा और महंगी ऊर्जा को साथ–साथ चलाया जाए। यह सोच हमें भविष्य के विकल्प सुझाने में सहयोग देगी, किंतु केवल इतना ही काफी नहीं है।

वैश्विक नेताओं को कुछ असहज संदेशों के साथ खड़ा होना होगा, जो व्यापार के विद्यमान मॉडल को चुनौती देते हों। रियो डि जेनेरियो में तमाम नेताओं को यह कहते हुए बस का इस्तेमाल करना चाहिए कि हम कारमुक्त विश्व चाहते हैं। उन्हें यह साफ–साफ, खुलकर और बिना किसी झिझक के कहना चाहिए। खेल को बदल डालें। हम सब यही चाहते हैं। हम इंतजार नहीं कर सकते। ❑

## सदस्यता संबंधी सूचना

मान्यवर,,

स्वदेशी पत्रिका आज देश में चल रहे स्वदेशी आंदोलनों का स्थापित प्रतीक बन चुकी है। पिछले कई वर्षों से स्वदेशी पत्रिका ने असंगत एवं एकतरफा वैश्वीकरण, जनविरोधी आर्थिक उदारीकरण के विरोध एवं वैकल्पिक और रचनात्मक स्वदेशी आंदोलन के पक्ष में एक सक्रिय प्रहरी के नाते हमेशा आपको जागरूक बनाया है एवं आपसे संवाद स्थापित किया है। विगत कालखंड में इन सभी मुद्दों पर हमें आप जैसे सजग पाठकों का अपेक्षित सहयोग भी मिलता रहा है और भविष्य में भी मिलेगा ऐसा, विश्वास है।

आपसे आग्रह है कि स्वदेशी पत्रिका की आपकी सदस्यता अवधि यदि समाप्त हो गई हो तो कृपया पिछले समय से आगामी वर्ष तक की राशि धनादेश (मनीआर्डर), चेक एवं मांग पत्र (डिमांड ड्राफ्ट) के माध्यम से शीघ्र भेजने की कृपा करें। पत्रिका के लिफाफे के उपर चिपकाए गए पते की प्रथम पंक्ति में सदस्यता अवधि अंकित है। आप अपनी सदस्यता राशि "स्वदेशी पत्रिका" के नाम पत्रिका के कार्यालय के पते पर भेज सकते हैं। सदस्यता अद्यतन न हो पाने की स्थिति में वित्तीय कारणों से पत्रिका आगे जारी रखना कठिन होगा।

**सदस्यता शुल्क निम्न प्रकार है।**

| स्वदेशी पत्रिका | वार्षिक | आजीवन |
|---|---|---|
| हिन्दी | 100/– | 1000/– |
| अंग्रेजी | 100/– | 1000/– |

हमें आपका सहयोग स्वदेशी आंदोलन को राष्ट्रव्यापी एवं जनोन्मुखी बनाने में प्रमुख भूमिका निभाएगा। कृपया स्वदेशी पत्रिका स्वयं भी पढ़ें एवं अन्य को भी पढ़ने के लिए प्रेरित करें। पत्रिका के संबंध में अपना निष्पक्ष विचार हमें अवश्य भेजें।

पता : **स्वदेशी पत्रिका कार्यालय, 'धर्मक्षेत्र' शिव शक्ति मंदिर, सैक्टर–8, रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली–22**

# पटरी पर कैसे लौटे भारतीय रेलवे

**देश में सड़कों की लंबाई आजादी के बाद 4 लाख किलोमीटर से बढ़कर 44 लाख किलोमीटर पहुंच गई, वहीं रेल लाइनों का विस्तार 54 हजार किलोमीटर से बढ़कर मात्र महज 64 हजार किलोमीटर तक ही पहुंच सका है। रेलवे के विकास में इस तरह की कोताही और संरचनागत कमजोरी हमारे देश की परिवहन लागत को और अधिक बढ़ाने का ही काम करेगी। इसके लिए सरकार को समझना होगा कि देश के विकास एवं आम जनता को सस्ती एवं सुविधाजनक परिवहन व्यवस्था उपलब्ध कराने में रेलवे का सर्वांगीण विकास का काम कहीं पीछे न छूट जाए अन्यथा बाकी लक्ष्य भी पिछड़ सकते हैं।**

■ डॉ. अश्विनी महाजन

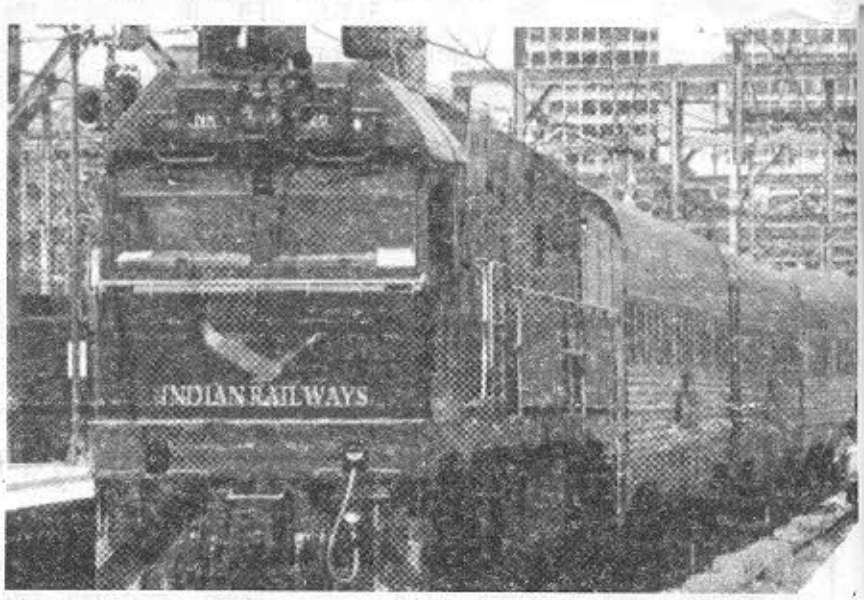


पिछले दिनों रेल मंत्रालय द्वारा केंद्र सरकार से 2100 करोड़ रुपये की ऋण की मांग देश के लोगों को कुछ अटपटी लगी। दरअसल, पिछले लगभग एक दशक से भी अधिक समय से रेलवे भरपूर आमदनी करता आ रहा है और साथ ही साथ केंद्र सरकार को भी खासी रकम लाभांश के रूप में देता रहा है।

माना जा रहा है कि वित्तीय संकट के चलते ही रेलवे अपनी चालू परियोजनाओं को पूरा नहीं कर पा रहा है। वित्त मंत्रालय से 2100 करोड़ रूपये का ऋण मांगने के अतिरिक्त रेलवे वित्त निगम लिमिटेड द्वारा 10 हजार करोड़ रुपये के बांड भी जारी करने की घोषणा 2011–12 के रेल बजट में की गई थी।

हालांकि भारतीय रेलवे किसी भी अन्य प्रकार के परिवहन से ज्यादा सस्ता साधन है फिर भी भारतीय रेलवे कभी इस तरह के भारी घाटे में नहीं रही। पिछले लगभग एक दशक से भी अधिक समय से भारतीय रेलवे एक लाभकारी उपक्रम के रूप में उभरा है और इससे सरकारी राजस्व को भारी लाभ हुआ, लेकिन वर्ष 2010–11 में रेलवे की वित्तीय व्यवस्था काफी खराब हो गई और रेलवे का घाटा असहनीय हो गया।

वर्ष 2007–2008 में रेलवे के पास 19,000 करोड़ रुपये का अतिरिक्त लाभ कोष था, जिसका बहुत बड़ा हिस्सा गई 2010 तक समाप्त हो गया और रेलवे के पास मात्र 5,000 करोड़ रुपये का ही अधिकोष बचा। अप्रैल से दिसंबर 2010 के दौरान रेलवे के वित्तीय परिणाम उत्साहजनक नहीं थे और यह माना जाता है कि वर्ष 2010–11 का राजस्व लक्ष्य भी प्राप्त नहीं हो सका।

इससे स्पष्ट है कि रेलवे का वित्तीय स्वास्थ्य फिलहाल बहुत अच्छा नहीं है और सितंबर माह आते–आते नकद अधिकोष मात्र 75 लाख रुपये ही बचा। रेलवे के स्वास्थ्य का एक और संकेत परिचालन अनुपात होता है। परिचालन अनुपात से अभिप्राय है कि रेलवे को 100 रुपये कमाने के लिए कितना व्यय करना पड़ता है। 2008–09 में यह अनुपात 90.5 था जो बढ़कर 2009–10 में 94.7 हो गया। वर्ष

**भारतीय रेलवे किसी भी अन्य प्रकार के परिवहन से ज्यादा सस्ता साधन है फिर भी भारतीय रेलवे कभी इस तरह के भारी घाटे में नहीं रही। पिछले लगभग एक दशक से भी अधिक समय से भारतीय रेलवे एक लाभकारी उपक्रम के रूप में उभरा है और इससे सरकारी राजस्व को भारी लाभ हुआ, लेकिन वर्ष 2010–11 में रेलवे की वित्तीय व्यवस्था काफी खराब हो गई और रेलवे का घाटा असहनीय हो गया।**

2010–11 की पहली छमाही में यह बढ़कर 125 तक पहुंच गया।

परिचालन अनुपात का बढ़ना चिंता की एक बड़ी वजह है। परिचालन अनुपात इसलिए बढ़ रहा है, क्योंकि एक ओर तो लागत बढ़ रही है और दूसरी ओर पिछले तीन वर्षो से भाड़े में कोई वृद्धि नहीं हुई है। वर्ष 2007–08 में रेलवे की परिचालन लागत मात्र 41033 करोड़ रुपये थी, जो 2011–12 में (बजट अनुमान) 73650 करोड़ रुपये पहुंच गई। इस समय अवधि में मात्र पेंशन पर ही खर्च लगभग 8000 करोड़ रुपये से 16 हजार करोड़ रुपये तक पहुंच गया।

हम देखते हैं कि पिछले एक दशक में यह लागत दोगुनी से भी अधिक हो चुकी है। रेल मंत्रियों ने माल भाड़े और यात्री किराए में आनुपातिक रूप से वृद्धि न करने की ठान रखी है और ऐसे करके वह स्वयं की प्रशंसा पाने का प्रयास भी करते हैं। पिछले तीन वर्षों में इस वजह से परिचालन अनुपात 90.5 से 125 तक पहुंच गया है, क्योंकि ईधन लागत और विशेषतौर पर छठा वेतन आयोग लागू होने के बाद वेतन और दूसरे प्रकार के खर्चो में लगातार वृद्धि हुई है।

अपनी रोजमर्रा की जरूरतों को भी पूरा न कर सकने की स्थिति के कारण रेल आधुनिकीकरण की तमाम योजनाएं कागजों तक सिमटकर रह गई हैं। मात्र दिल्ली डिवीजन के ही रेलवे स्टेशनों के आधुनिकीकरण के लिए जरूरी 240 करोड़ रुपये की योजना धन की कमी के कारण अमल में आने से वंचित है। देश में लगभग 7000 रेलवे स्टेशनों की हालत में सुधार की तत्काल बड़ी आवश्यकता है। रेलवे भारत सरकार का एक विभागीय वाणिज्यिक उपक्रम है। इसी प्रकार से पेट्रोलियम कंपनियां भी सार्वजनिक क्षेत्र की उपक्रम हैं।

पिछले लगभग 15 महीनों से पेट्रोलियम कंपनियों को अपने उत्पादों की कीमत स्वयं निर्धारित करने की छूट दी गई है, ताकि वे अपने घाटे को पाट सकें। इस नीति की घोषणा होने के बाद पेट्रोलियम कंपनियों ने 10 से भी अधिक बार पेट्रोलियम उत्पादो की कीमतों में वृद्धि की है। पेट्रोलियम उत्पादों के कीमतों को बाजार की मांग व आपूर्ति के हिसाब से नियंत्रणमुक्त करने के पक्ष में यह तर्क दिया गया था कि नियंत्रित कीमतों के कारण इन कंपनियों का घाटा लगातार बढ़ता जा रहा है।

रेलवे का विकास देश के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। यही नहीं कि भारतीय रेल प्रतिदिन 180 लाख यात्रियों को रोज ढोती है और हर वर्ष 1739 लाख टन सामान की ढुलाई इसके द्वारा होती है। भारतीय रेल परिवहन लागत को कम करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण साधन है। रेलवे का माल भाड़ा सड़क के माल भाड़े से मात्र एक तिहाई ही पड़ता है। लंबी दूरी की यात्रा में तो रेलवे का कोई विकल्प ही नही है। कम दूरी की यात्रा में भी रेल किराए बस की यात्रा किराए से आधा होते हैं।

रेलवे का विकास देश के परिवहन के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। रेलवे के विकास के लिए उसके वित्तीय स्वास्थ्य को ठीक रखना बहुत जरूरी है। इसके लिए हमें इसके माल भाडे और यात्री किराए को तर्कसंगत बनाने की आवश्यकता है। इस निर्णय में विलंब रेलवे के विकास को बाधित कर रहा है। आज रेलवे को नई लाइनें बिछाने, नए इंजन और कोच कारखानों को खोलने और अन्य प्रकार के बुनियादी ढ़ांचों के लिए तत्काल प्रयास करने की जरूरत है।

लगातार बढ़ती लागतों के बावजूद रेल बजट 2011–12 में रेलमंत्री द्वारा रेल भाड़ों को न बढ़ाने का निर्णय रेल विकास को बाधित कर रहा है। हालांकि वर्ष 2011–12 के रेल बजट में योजना व्यय को 57,630 करोड़ रुपये रखने का प्रस्ताव है। यदि रेल भाड़े एवं यात्री किरायों में तर्कसंगत और क्रमशः बदलाव किया जाता तो यह नीति कहीं ज्यादा कारगर होती। ऐसी स्थिति में आर्थिक संवृद्धि के नौ प्रतिशत के लक्ष्य के मद्देनजर रेलवे की भूमिका पर एक सवालिया निशान लग रहा है।

दुर्भाग्यपूर्ण यह है कि जहां देश में सड़कों की लंबाई आजादी के बाद 4 लाख किलोमीटर से बढ़कर 44 लाख किलोमीटर पहुंच गई, वहीं रेल लाइनों का विस्तार 54 हजार किलोमीटर से बढ़कर मात्र महज 64 हजार किलोमीटर तक ही पहुंच सका है। रेलवे के विकास में इस तरह की कोताही और संरचनागत कमजोरी हमारे देश की परिवहन लागत को और अधिक बढ़ाने का ही काम करेगी। इसके लिए सरकार को समझना होगा कि देश के विकास एवं आम जनता को सस्ती एवं सुविधाजनक परिवहन व्यवस्था उपलब्ध कराने में रेलवे का सर्वांगीण विकास का काम कहीं पीछे न छूट जाए अन्यथा बाकी लक्ष्य भी पिछड़ सकते हैं।

वास्तविकता यह है कि सरकार का लोकलुभावन दृष्टिकोण रेलवे के विकास में बाधा बन रही है। आम जनता के लिए रेलवे की सुविधाओं में सुधार और रेलवे के विस्तार के लिए किराए की संरचना का युक्तिकरण नितांत आवश्यक है। आम बजट पर पहले ही काफी दबाव रहता है। इसलिए रेलवे के विकास के लिए भी आम बजट पर निर्भर नहीं रहा जा सकता।❑

# सुरक्षा पर खतरनाक सुझाव

**मौजूदा समय की बात है तो अभी ऐसे हालात नहीं हैं। इस कानून को हटाने के बाद कानून एवं व्यवस्था कायम रखने की जिम्मेदारी केवल स्थानीय पुलिस के कंधों पर आ जाएगी जिससे इन क्षेत्रों में अलगाववादी और हिंसक समूह अपनी गतिविधियां तेज कर देंगे। इस प्रकार, जम्मू–कश्मीर के मुख्यमंत्री के लिए राजनीतिक रूप से यह अधिक विवेकपूर्ण होगा कि ऐसे समय सशस्त्र बल विशेषाधिकार अधिनियम पर बहस न छेड़ें जब हालात इस कानून को लागू रखना जरूरी बता रहे हैं।**

■ अरुण जेटली

जम्मू–कश्मीर के मुख्यमंत्री उमर अब्दुल्ला ने हाल ही में सुझाव दिया है कि सशस्त्र बल विशेषाधिकार अधिनियम 1958 यानी अफस्पा के प्रावधान को राज्य के कुछ क्षेत्रों से हटा दिया जाए। इस सुझाव से विवाद खड़ा हो गया है, क्योंकि सुरक्षा बल और रक्षा मंत्रालय का मानना है कि जम्मू–कश्मीर में इस अधिनियम को लागू करना बेहद जरूरी है। इसलिए इस कानून के प्रावधानों की पड़ताल और इन्हें राज्य में लागू करने की आवश्यकता का जायजा लेना जरूरी हो जाता है।

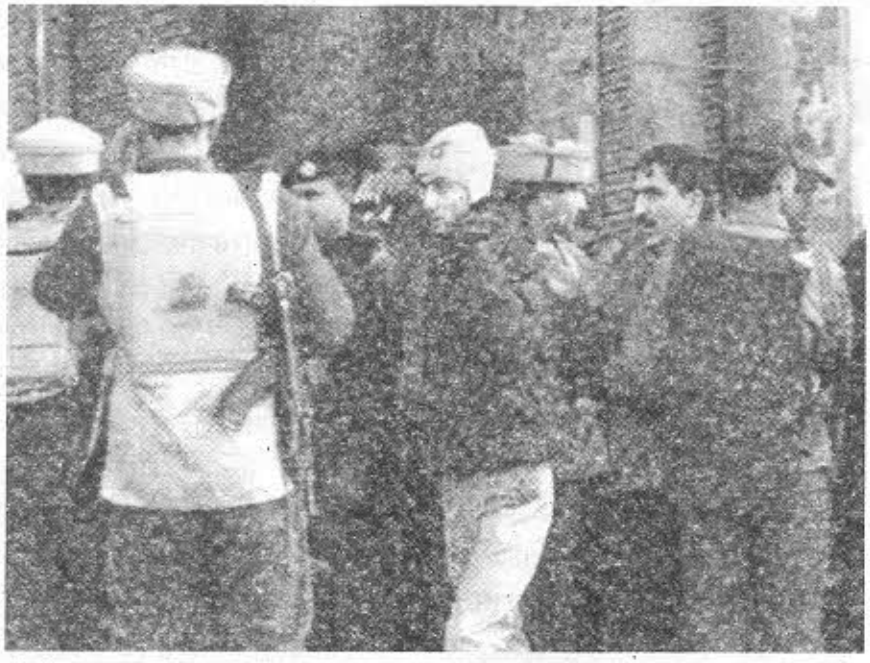

**अगर केवल स्थानीय पुलिस ही राज्य में कानून एवं व्यवस्था कायम रखने में सक्षम नजर आती तो उस क्षेत्र को अशांत क्षेत्र घोषित करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इसलिए किसी राज्य अथवा उसके किसी विशेष भाग का अशांत दर्जा जारी रखने या न रखने का फैसला सुरक्षा पहलुओं पर गौर करके लिया जाता है, न कि राजनीतिक आग्रहों के कारण।**

दो दशक से अधिक समय से जम्मू–कश्मीर अशांत क्षेत्र बना हुआ है। यह सीमा पार आतंकवाद का शिकार रहा है। कुछ घरेलू समूहों ने भी जम्मू–कश्मीर के भारत के अभिन्न अंग के दर्जे पर विवाद खड़ा किया है। यह पूरे देश और राज्य प्रशासन का प्रयास होना चाहिए कि राज्य में शांति और स्थिरता कायम हो और प्रदेश की जनता को किसी भी प्रकार की हिंसा व उत्पीड़न से मुक्ति मिले।

आतंकवाद और अलगाववादी हिंसा के खिलाफ राजनीतिक स्तर पर और सुरक्षा ढांचे की ओर से माकूल प्रतिक्रिया अपेक्षित है। सुरक्षा बलों की ओर से व्यक्त की जाने वाली प्रतिक्रिया रोजमर्रा के नागरिक जीवन को प्रभावित कर सकती है, किंतु यह सख्ती जरूरी है। अगर सुरक्षा बलों के स्तर पर किसी भी तरह की ढिलाई बरती जाती है तो इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि हिंसक और अलगाववादी गतिविधियों पर अंकुश नहीं लग पाएगा।

राज्य पुलिस के अलावा संघ के सशस्त्र बल भी प्रशासन को सहायता प्रदान करते हैं। सशस्त्र बलों का मतलब केवल सेना से ही नहीं है, बल्कि इनमें सीमा सुरक्षा बल, सीआरपीएफ, असम राइफल्स और आईटीबीपी जैसे संघ के कुछ अन्य सशस्त्र बल भी शामिल हैं। जैसे

ही किसी राज्य का समस्त भाग या फिर इसका कुछ हिस्सा अशांत घोषित किया जाता है, राज्य में शांति और व्यवस्था बनाए रखने को नागरिक प्रशासन और पुलिस की सहायता के लिए सशस्त्र बलों को बुला लिया जाता है। सशस्त्र बल अपराध की जांच नहीं करते। उनके जवान सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए जरूरी कदम उठाने और इसमें बाधा पहुंचाने वालों को चेतावनी देने के बाद ही बल प्रयोग के लिए अधिकृत हैं। वे किसी भी परिसर में जाकर तलाशी ले सकते हैं। वे किसी भी ऐसे भवन को ध्वस्त कर सकते हैं जहां से सशस्त्र हमले किया जा रहे हों।

उन्हें किसी भी व्यक्ति को बिना वारंट गिरफ्तार करने का अधिकार है और ये गिरफ्तार किए गए व्यक्ति को नजदीकी पुलिस स्टेशन भी ले जा सकते हैं। इस प्रकार, किसी क्षेत्र को अशांत घोषित करने से आशय है कि सरकार यह मानती है कि नागरिक प्रशासन और स्थानीय पुलिस राज्य में कानून एवं व्यवस्था को कायम रख पाने में असमर्थ हैं। अगर केवल स्थानीय पुलिस ही राज्य में कानून एवं व्यवस्था कायम रखने में सक्षम नजर आती तो उस क्षेत्र को अशांत क्षेत्र घोषित करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इसलिए किसी राज्य अथवा उसके किसी विशेष भाग का अशांत दर्जा जारी रखने या न रखने का फैसला सुरक्षा पहलुओं पर गौर करके लिया जाता है, न कि राजनीतिक आग्रहों के कारण।

उन जिलों में भी जहां से सेना वापस बुला ली गई है, सीआरपीएफ और अन्य सशस्त्र बल तैनात हैं। यह एक सच्चाई है कि इन जिलों में स्थानीय पुलिस कानून एवं व्यवस्था की स्थिति को संभालने तथा अलगाववादी तत्वों के मंसूबे ध्वस्त करने में पूरी तरह सक्षम नहीं है। इस संदर्भ में हम इसकी भी अनदेखी नहीं कर सकते कि केंद्र के सशस्त्र बलों को जो शक्तियां दी गई हैं वे स्थानीय पुलिस को मिली शक्तियों से अधिक भिन्न नहीं हैं। स्थानीय पुलिस को भी कानून एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए गिरफ्तारी और तलाशी का अधिकार है। शांति और सौहार्द्र बनाए

**सुरक्षा बलों की ओर से व्यक्त की जाने वाली प्रतिक्रिया रोजमर्रा के नागरिक जीवन को प्रभावित कर सकती है, किंतु यह सख्ती जरूरी है। अगर सुरक्षा बलों के स्तर पर किसी भी तरह की ढिलाई बरती जाती है तो इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि हिंसक और अलगाववादी गतिविधियों पर अंकुश नहीं लग पाएगा।**

रखने के लिए पुलिस भी उपयुक्त शक्तियों का इस्तेमाल कर सकती है। वह भी किसी ऐसे भवन को ध्वस्त कर सकती है, जिसका इस्तेमाल हिंसक समूह द्वारा सशस्त्र हमला करने में किया जा रहा हो। केंद्रीय सशस्त्र बलों को इस कानून के जरिए एकमात्र सुरक्षा यह प्रदान की गई है कि इसके तहत कार्य करने वाले किसी भी सुरक्षाकर्मी के खिलाफ केंद्रीय सरकार की अनुमति के बगैर कोई भी कानूनी या प्रशासनिक कार्रवाई नहीं की जा सकती।

पिछले साल जब सर्वदलीय प्रतिनिधिमंडल के साथ मैं जम्मू–कश्मीर के दौरे पर पहुंचा था तो मुझे बताया गया था कि केंद्र सरकार के पास सशस्त्र बलों के खिलाफ ढाई हजार से अधिक शिकायतें लंबित पड़ी हैं। इस प्रकार यह कहने में संकोच नहीं कि यह अधिनियम सुरक्षा बलों के जवानों को यह कवच प्रदान करता है कि केंद्रीय सरकार की अनुमति के बगैर उनके खिलाफ कार्रवाई नहीं की जा सकती, लेकिन केवल इस आधार पर यह नहीं माना जा सकता कि इसका दुरुपयोग हो रहा है। अगर यह सुरक्षा हटा ली जाती है तो राजनीतिक निहित स्वार्थों के कारण अर्द्धसैनिक बलों और सशस्त्र बलों के जवानों के खिलाफ अनेक मामले दर्ज कर लिए जाएंगे।

जाहिर है, इससे इन सुरक्षा बलों के जवानों का अलगाववादी समूहों के खिलाफ कार्रवाई करने का मनोबल टूट जाएगा। जब सुरक्षा बल इस कानून के प्रावधानों को जम्मू कश्मीर से हटाने के पक्ष में नहीं हैं तो राजनीतिक निहित स्वार्थों के कारण इस दलील को स्वीकारने के खतरनाक नतीजे निकलेंगे कि इस कानून को केवल कुछ भागों तक ही सीमित कर देना चाहिए।

हमें उम्मीद करनी चाहिए कि भविष्य में प्रदेश में ऐसे हालात बनें कि इस अफस्पा को लागू करने की जरूरत ही न पड़े या फिर यह भी हो सकता है कि इसे कुछ भागों में ही लागू किया जाए। जहां तक मौजूदा समय की बात है तो अभी ऐसे हालात नहीं हैं। इस कानून को हटाने के बाद कानून एवं व्यवस्था कायम रखने की जिम्मेदारी केवल केवल स्थानीय पुलिस के कंधों पर आ जाएगी जिससे इन क्षेत्रों में अलगाववादी और हिंसक समूह अपनी गतिविधियां तेज कर देंगे। इस प्रकार, जम्मू–कश्मीर के मुख्यमंत्री के लिए राजनीतिक रूप से यह अधिक विवेकपूर्ण होगा कि ऐसे समय सशस्त्र बल विशेषाधिकार अधिनियम पर बहस न छेड़ें जब हालात इस कानून को लागू रखना जरूरी बता रहे हैं। ❑

# अमरीका की दोहरी नीति

**अमरीका उन आग्रहों और आदर्शों को ताक पर रख देता है, जिनकी नसीहत वह अन्य देशों को देता रहता है। अपने पिठ्ठू शासकों द्वारा राजनीतिक दमन, महिला अधिकारों के हनन और लोकतंत्र का गला घोंटने की अमेरिका अनदेखी करता रहा है। परिणाम स्वरूप अमेरिका अब भी अरब देशों में वहाबी कट्टरपंथियों को पोषित करता है, जबकि सीरिया, लीबिया और इराक जैसे अपेक्षाकृत पंथनिरपेक्ष देश अमेरिकी समर्थित सत्ता परिवर्तन अथवा प्रतिबंधों के शिकार हुए हैं।**

■ ब्रह्म चेलानी

जब लीबिया की अंतरिम सरकार ने 23 अक्टूबर को तानाशाह गद्दाफी के 42 साल के राज से देश की आधिकारिक स्वतंत्रता की घोषणा की तो उसने यह भी कहा कि लीबिया में इस्लामिक शरिया जिसमें बहुविवाह प्रथा भी शामिल है, के आधार पर शासन किया जाएगा। लीबिया में लोकतंत्र की स्थापना के नाम पर सात माह तक नाटो की बमबारी के बाद एक बुराई के स्थान पर दूसरी बुराई की स्थापना एक क्रूर राजनीतिक पटाक्षेप है।

सैन्य शक्ति से लीबिया में सत्ता परिवर्तन करने वाली पश्चिमी ताकतों ने नए शासकों को इस्लामिक धर्मशास्त्र पर आधारित धर्मतंत्र की स्थापना करने से रोकने का जरा भी प्रयास नहीं किया। अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस के लिए अपने आदमी को सत्तारूढ़ करने की कीमत इस राजनीतिक उलटबांसी के रूप में सामने आई है। इस्लामिक तत्वों को गले लगाने से सत्तारूढ़ लोगों की विश्वसनीयता कायम करने में मदद मिलती है, जो अन्यथा अपने समाज में विदेशी कठपुतली समझ लिए जाते।

इसी कारण ये शक्तियां तेल के कट्टरपंथी अरब शेखों के कार्यकलापों की अनदेखी करती आ रही हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिका समर्थित सऊदी घराना न केवल शताब्दी पुराने वहाबी इस्लाम की परंपराओं को मानता है, बल्कि अपने सतही इस्लाम का निर्यात भी करता है। परिणामस्वरूप विश्व के अन्य भागों में उदारवादी इस्लामी परंपराओं को कुचला जा रहा है। हाल ही में सऊदी उत्तराधिकारी की मौत के बाद अमेरिका ने अपेक्षाकृत सुधारवादी स्थानापन्न की नियुक्ति को प्रोत्साहित नहीं किया। अब खलीफा के उत्तराधिकारी के तौर पर नायेफ बिन अब्दुल अजीज का नाम सामने आ रहा है। अमेरिका का विश्वासपात्र होने के साथ-साथ वह जिहादी कठमुल्लाओं के भी करीबी हैं। यही नहीं, वह देश के सुरक्षा तंत्र के प्रमुख भी है, जो सिर कलम करने, मार-पिटाई करने और आंखें तक नोंच लेने के लिए कुख्यात है। वास्तव में, अमेरिकी नीतियों ने तब आंखें मूंद लीं जब इस साल सऊदी सेना ने बहरीन में

**हमें इस मामले में एकदम स्पष्ट रहना चाहिए कि आतंकवाद के खिलाफ वैश्विक लड़ाई में तभी जीत हासिल हो सकती है जब यह सुनिश्चित किया जा सके कि कोई भी देश इस्लामिक कट्टरपंथी शक्तियों को प्रोत्साहन न दे और हिंसा को पंथिक औजार के तौर पर इस्तेमाल न करे।**

बहुसंख्यक शिया समुदाय के लोकतंत्र समर्थक आंदोलन को कुचल दिया। सऊदी धावा 1979 में अफगानिस्तान में सोवियत धावे के समान है, जिसके कारण अमेरिका ने अरबों डॉलर खर्च कर अफगान विद्रोहियों को हथियारबंद किया। इसी के परिणामस्वरूप दुनिया भर में अलकायदा समेत अन्य आतंकवादी फैल गए।

तेल समृद्ध देशों में अपने पिठ्ठुओं को गद्दी पर बिठाने के लिए वाशिंगटन उन आग्रहों और आदर्शों को ताक पर रख देता है, जिनकी नसीहत वह अन्य देशों को देता रहता है। अपने पिठ्ठू शासकों द्वारा राजनीतिक दमन, महिला अधिकारों के हनन और लोकतंत्र का गला घोंटने की अमेरिका अनदेखी करता रहा है। परिणाम स्वरूप अमेरिका अब भी अरब देशों में वहाबी कट्टरपंथियों को पोषित करता है, जबकि सीरिया, लीबिया और इराक जैसे अपेक्षाकृत पंथनिरपेक्ष देश अमेरिकी समर्थित सत्ता परिवर्तन अथवा प्रतिबंधों के शिकार हुए हैं। अमेरिकी वरदहस्त के कारण ही तेल साम्राज्य वाले पिद्दू अरब देश अरब क्रांति से अप्रभावित रहे हैं।

अमेरिकी और यूरोपीय रिफाइनरियों के पसंदीदा हलके क्रूड का विश्व में सबसे बड़े भंडारों वाला देश लीबिया स्पष्ट तौर पर उदार लोकतंत्र का स्वागत नहीं कर रहा था। रक्तरंजित स्वतंत्रता हासिल करने वाले नए लीबिया के सामने अनिश्चित भविष्य है। एकमात्र निश्चितता इस बात की है कि इसके नए शासन उन शक्तियों के प्रति समर्पित रहेंगे, जिन्होंने उन्हें स्थापित किया है।

अमेरिकी सीनेटर जॉन मैक्केन ने नए लीबियाई शासकों से मुलाकात के तुरंत बाद घोषणा कर दी कि वे हमें और हमारे सहयोगियों के सत्ता परिवर्तन पर आए खर्च की भरपाई करने को तैयार हैं। अमेरिका पहले ही लीबिया की 37 अरब डॉलर की संपत्तियां सीज कर चुका है। नाटो सैन्य अभियान के अनुमानित 1.2 अरब डॉलर के बिल का भुगतान करना लीबिया के नए शासकों के लिए सत्ता हासिल करने की छोटी–सी कीमत है।

विडंबना यह है कि मध्यपूर्व में अमेरिका अपने पिद्दू, किंतु कट्टर इस्लामिक शक्तियों को सत्तारूढ़ करने के लिए गृहयुद्ध भड़काने में सहयोग दे रहा है। वह इस बात पर ध्यान नहीं दे रहा कि इससे अमेरिका विरोधी मानसिकता तथा कट्टर इस्लामिक सोच ही पैदा हो रही है।

**विडंबना यह है कि मध्यपूर्व में अमेरिका अपने पिद्दू, किंतु कट्टर इस्लामिक शक्तियों को सत्तारूढ़ करने के लिए गृहयुद्ध भड़काने में सहयोग दे रहा है। वह इस बात पर ध्यान नहीं दे रहा कि इससे अमेरिका विरोधी मानसिकता तथा कट्टर इस्लामिक सोच ही पैदा हो रही है।**

इस्लामिक शासकों और समूहों के साथ अमेरिका के संबंध 1980 के दशक में मजबूत हुए थे, जब रीगन प्रशासन ने अफगानिस्तान में सोवियत दखलंदाजी के खिलाफ खुलेआम इस्लाम को विचारधारात्मक औजार के रूप में इस्तेमाल किया और जिहादी भावनाओं को भड़काया। आठवें दशक के मध्य में अफगानिस्तान–पाकिस्तान के कुछ कथित पवित्र योद्धाओं की व्हाइट हाउस में मेहमानवाजी करते हुए तत्कालीन राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने मुजाहिदीन को अमेरिका के फाउंडिंग फादर्स के समकक्ष दर्जा दिया था। ऐसे दो नेता ओसामा बिन लादेन और तालिबान प्रमुख मुल्ला मोहम्मद उमर बाद में अमेरिका के शत्रु बन गए थे। गलती न करें। अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद और जिहाद अमेरिका के निरीश्वरवाद और कम्युनिज्म के खिलाफ युद्ध के सहउत्पाद हैं, जिसमें अमेरिका की जीत मान ली गई थी, किंतु उस युद्ध के सबक भुला दिए गए।

दीर्घकालीन लक्ष्यों पर ध्यान केंद्रित न करके अमेरिका फिर से राजनीतिक उपयोगिता और संकीर्ण भूराजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास कर रहा है।

इसलिए अगर वहां चुनाव होते हैं तो इसी प्रकार के कट्टरपंथी इस्लामिक सोच वाले लोग विजयी होंगे। हमें इस मामले में एकदम स्पष्ट रहना चाहिए कि आतंकवाद के खिलाफ वैश्विक लड़ाई में तभी जीत हासिल हो सकती है जब यह सुनिश्चित किया जा सके कि कोई भी देश इस्लामिक कट्टरपंथी शक्तियों को प्रोत्साहन न दे और हिंसा को पंथिक औजार के तौर पर इस्तेमाल न करे। आज भी, इतिहास खतरनाक तरीके से खुद को दोहरा रहा है।

नाटो समर्थित लड़ाकों द्वारा गद्दाफी की बर्बर तरीके से की गई हत्या और उनके शव का वहशियाना प्रदर्शन, 1996 में तालिबान लड़ाकों द्वारा पूर्व अफगान राष्ट्रपति नजीबुल्लाह को संयुक्त राष्ट्र परिसर से खींचकर बाहर निकालने, बुरी तरह पीटने और फिर एक ट्रैफिक बैरिकेड से सरेआम फांसी पर लटकाने की बर्बर घटना की याद दिलाती है। इसके बाद जो खूनखराबा हुआ उसने अफगानिस्तान को क्षेत्रीय और अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा का नासूर बना दिया। इस आलोक में क्या लीबिया एक और जिहादी जन्नत बनने जा रहा है? ❑

लेख

# पर्यावरण की भारतीय संकल्पना

**भारतीय पर्यावरण शुद्धि के लिए वन व वृक्षों की अति आवश्यकता है। किसी भी राष्ट्र के संतुलित विकास के लिए कम से कम 33 प्रतिशत भूमि पर वन होना चाहिए। भारत जब स्वतंत्र हुआ तब केवल 22 प्रतिशत भूमि पर वन थे। हमने जो पाश्चात्य विकास पथ अपनाया, उसके कारण वर्तमान में 10 प्रतिशत के लगभग वन रह गए है। यदि ये वन समाप्त हो जाएंगे तो मानव किसके सहारे जीवित रहेगा।**

■ रेणु पुराणिक

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण की शुद्धता पर प्राचीन काल से ही बहुत सतर्कता रखी जाती रही है। हमारे यहाँ पंच भौतिक तत्वों अर्थात् पृथ्वी, जल, आकाश, वायु एवं अग्नि को पवित्र तथा मूल तत्वों के रूप में माना गया है। वेदो और उपनिषदों का भी पंच तत्व, वनस्पति तथा पर्यावरण संरक्षण का अहम् विषय रहा है। प्राचीन ऋषि–मुनियों ने मानव शरीर को पंच भौतिक तत्वों से निर्मित माना है। प्रकृति में वायु, जल, मिट्टी, पेड़–पौधों, जीव–जन्तु एवं मानव का संतुलन बना हुा है जो हमारे अस्तित्व का आधार हे। जीवनधारी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रकृति पर निर्भर है। वास्तव में देखा जाए तो आधुनिक मानव सभ्यता को प्रकृति द्वारा प्रदान की सबसे मूल्यवान निधि पर्यावरण ही है, जिसका संरक्षण करना हमारा दायित्व है।

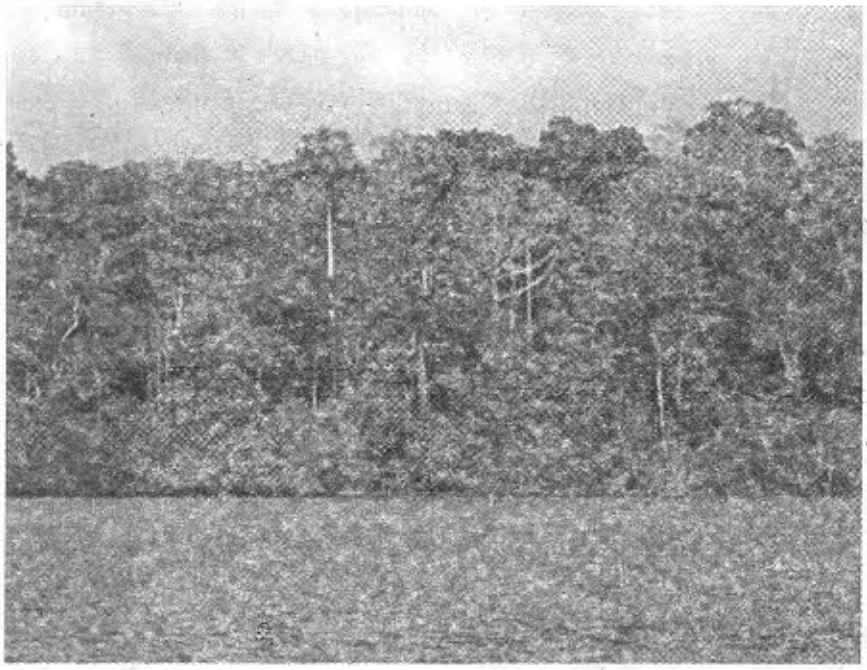

**आधुनिक वैज्ञानिक युग में यह आवश्यक है कि प्रकृति द्वारा उपलब्ध कराई गई पर्यावरण रूपी निधि का बुद्धिमत्तापूर्ण तरीके से प्रयोग किया जाए और आने वाली पीढ़ी को भी इसके प्रति जागरूक बनाया जाए। पर्यावरणीय चेतना व पर्यावरण संरक्षण आज के युग की प्रमुख मांग है।**

आधुनिक वैज्ञानिक युग में यह आवश्यक है कि प्रकृति द्वारा उपलब्ध कराई गई पर्यावरण रूपी निधि का बुद्धिमत्तापूर्ण तरीके से प्रयोग किया जाए और आने वाली पीढ़ी को भी इसके प्रति जागरूक बनाया जाए। पर्यावरणीय चेतना व पर्यावरण संरक्षण आज के युग की प्रमुख मांग है।

भारत विशाल देश है। यहाँ सब ऋतुएँ हैं, अतुल खनिज संपदा है, विस्तृत भूभाग, पहाड़ व वन है, नदी–नाले है, झरने हैं, सरोवर है, वन्यजीव है, विभिन्न जातियाँ है, धर्म है, भाषाएं हैं अर्थात् प्रकृति का अपार स्नेह है। प्राचीन काल से ही महापुरुषों ने पर्यावरणीय चेतना को जन–जीवन से जोड़ दिया था, उनकी सोच एवं समझ गहन और व्यापक थी।

संस्कृति संस्कारों का ही ताना–बाना है। प्रकृति की गोद में हमारी संस्कृति फली–फूली। हमारी संस्कृति में पर्यावरण संरक्षण को विशेष बल दिया गया है।

प्रकृति में ही उपनिषदों की रचना हुई है। हिमालय योगी–मुनियों की तपोस्थली रहा है। तीन प्रसिद्ध अरण्य नेमिषारण्य, दण्डकारण्य, पुष्करारण्य इस बात के प्रतीक है।

विभिन्न अवसरों पर महिलायें विभिन्न वृक्षो यथा वट, पीपल, ऑवला, नीम, आम आदि की पूजा करती है जो पर्यावरण संरक्षण का प्रतीक है। कदली, पीपल, आंवला, आम, वट एवं नीम के वृक्षों को पवित्र माना गया है। भारतीय संस्कृति में तुलसी की बड़ी महिमा है। इस प्रकार मानव व वृक्षों के बीच सहअस्तित्व की भावना प्रत्यक्ष दिखाई देती है।

विभिन्न जीवों को हमने विभिन्न देवताओं के वाहन के रूप में स्वीकार कर उनका महत्व सहर्ष अंगीकार किया है और उन्हें संरक्षण प्रदान किया है जो विश्व में कहीं भी दिखाई नहीं देता है।

भारतीय संस्कृति में विष्णु के दश अवतारों में वराह अवतार, नृसिंह अवतार, मत्स्यावतार, कच्छपावतार आदि जीवों के महत्व को प्रकट करता है और मानव इनकी पूजा अर्चना देवता के रूप में करता आ रहा है।

जल को वरुण देवता के रूप में माना गया है, अग्नि को अग्नि देवता माना है और सागर को देव मानकर इनकी पूजा अर्चना की जाती है।

सप्त नदियां गंगा, यमुना, सरस्वती, कृष्ण, कावेरी, गोदावरी, सिंधु आदि विख्यात रही है। प्राचीन संस्कृति के अनुसार नदियों, सरोवरों एवं सागरों में मल–मूत्र अवशिष्ट विसर्जन को एक नैतिक अपराध माना गया है।

भारतीय मानव ने मानव जीवन को जितना संस्कारित किया है, ज्ञान और कर्म के क्षेत्र में जो निर्माण है, उनकी पृष्ठभूमि से भारतीय संस्कृति की महक मिलती है। संस्कृति के रूप में मानव और पृथ्वी के घनिष्ठ संबंध ही हमारे जीवन के विविध रूप है।

भारतीय महापुरुषों ने पर्यावरण के प्रत्येक घटक और उपकरण को धर्म के साथ बाँध दिया, ताकि उसका पालन अनंतकाल तक किया जा सके।

धर्म के अनुसार भी पर्यावरण शुद्धि पर बहुत ध्यान रखा गया है। जीव–जंतुओं को मारना घोर अपराध माना जाता है। महाभारत काल में महाराज शिवी ने एक कबूतर को बचाने के लिए अपने जीवन का बलिदान देने का संकल्प किया था।

**भारतीय मानव ने मानव जीवन को जितना संस्कारित किया है, ज्ञान और कर्म के क्षेत्र में जो निर्माण है, उनकी पृष्ठभूमि से भारतीय संस्कृति की महक मिलती है। संस्कृति के रूप में मानव और पृथ्वी के घनिष्ठ संबंध ही हमारे जीवन के विविध रूप है।**

अधिकांश भारतीय जन अपने मृतक स्वजनों के शव का अग्नि संस्कार करते है, जिससे शव के समस्त हानिकारक जीवाणु नष्ट हो जाते है। जबकि जमीन में गाड़ने, जल में प्रवाहित करने या अन्य तरीके से शव के अंतिम संस्कार से यह संभव नहीं हो पाता है। अब तो पाश्चात्य विद्वानों ने भी शव दाह–संस्कार को पर्यावरण शुद्धि की दृष्टि से सर्वोत्तम व उचित माना है।

भारतीय जीवन शैली में पूजा–अर्चना करना, धूपबत्ती जलाना, तांबे के पात्र में पानी रखना, सूर्य स्नान, प्राणायाम, वृक्ष पूजा, प्रातः भ्रमण, नदी स्नान, ब्रह्म मुर्हूत में उठना आदि भारतीय संस्कृति की ही पर्यावरणीय चेतना है।

इसी प्रकार भारतीय पर्यावरण शुद्धि के लिए वन व वृक्षों की अति आवश्यकता है। किसी भी राष्ट्र के संतुलित विकास के लिए कम से कम 33 प्रतिशत भूमि पर वन होना चाहिए। भारत जब स्वतंत्र हुआ तब केवल 22 प्रतिशत भूमि पर वन थे। हमने जो पाश्चात्य विकास पथ अपनाया,

**विकास की आँधी के इस दौर में जिस तरह प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया जा रहा है, उससे और औद्योगीकरण से पर्यावरण प्रदूषित होता जा रहा है। कहने को तो पृथ्वी का 70 प्रतिशत भाग पानी हाईड्रोजन व आक्सीजन के रासायनिक मिश्रण से ढ़का है। 98 प्रतिशत पानी खारा है। शेष 2 प्रतिशत पानी में ज्यादात्तर उत्तरी व दक्षिणी धुव्रों, ठंडे प्रदेशों, पर्वत शिखरों में जमी बर्फ और धरती के भीतर प्रवाहित जलधाराओं के रूप में विद्यमान है।**

उसके कारण वर्तमान में 10 प्रतिशत के लगभग वन रह गए है। यदि ये वन समाप्त हो जाएंगे तो मानव किसके सहारे जीवित रहेगा।

प्राण वायु और वर्षा का पानी हमें इन्हीं वृक्षों से मिलता है तथा फल–फूल, भोजन, औषधि, वायु, आक्सीजन भी इन्ही से मिल रहा है। आज सभ्यता के इस युग में वृक्षों की अंधाधुंध कटाई हो रही है और वन घटते जा रहे हैं।

विकास की आँधी के इस दौर में जिस तरह प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया जा रहा है, उससे और औद्योगीकरण से पर्यावरण प्रदूषित होता जा रहा है। कहने को तो पृथ्वी का 70 प्रतिशत भाग पानी हाईड्रोजन व आक्सीजन के रासायनिक मिश्रण से ढ़का है। 98 प्रतिशत पानी खारा है। शेष 2 प्रतिशत पानी में ज्यादात्तर उत्तरी व दक्षिणी धुव्रों, ठंडे प्रदेशों, पर्वत शिखरों में जमी बर्फ और धरती के भीतर प्रवाहित जलधाराओं के रूप में विद्यमान है। धरती के भीतर प्रवाहित जल के बाद बहुत थोड़ी सी मात्रा में नदी–नालों झीलों व सरोवरों के रूप में धरती की सतह पर जो पानी बचता है वह हमारे उपभोग में आता है। उसकी मात्रा केवल 0.014 प्रतिशत ही है। विश्व के कुल शुद्ध जल का 73 प्रतिशत भाग सिंचाई तथा अनेक प्रकार के औद्योगिक व रसायनिक कार्यों में उपयोग हो जाता है, जो पानी बचता है वह अनेक प्रकार से प्रदूषित हो जाता है।

वनों की कटाई, चारागाह के रूप में वनों का उपयोग और पानी के औद्योगिक उपयोग के कारण शुद्ध पानी की किल्लत हर जगह बढ़ती जा रही है। पानी को अपने ढंग से अलग–अलग दिशाओं में मोड़ना, जगह–जगह नहरें, बाँध, विद्युत संयंत्र बनाने से प्राकृतिक संतुलन बिगड़ रहा है। बाढ़, भूस्खलन, जलवायु परिवर्तन की स्थितियाँ बढ़ती जा रही है।

स्वचालित वाहनों की बढ़ती भीड़ औ विभिन्न औद्योगिक क्रांति से प्रदूषण बढ़ रहा है। आधुनिक टेक्नालॉजी और विकास की देन से प्रदूषण समस्याएं बढ़ी ही है। प्रदूषण से वायुमण्डल बुरी तरह प्रभावित हो रहा है। विकास के नाम पर आगे बढ़ने की चाह में, हम जो धुआँ कलकारखानों तथा वाहनों से छोड़ते हैं वह अब भस्मासुर राक्षस बन गया है। भारत में प्रदूषित वायु के कारण करीब 6 लाख लोग हर वर्ष अकाल मौत के शिकार हो जाते है। 3.8 करोड़ लोग पीलिया, हेपेटाइटिस जैसे गंभीर रोगों से ग्रस्त हो जाते है और करीब 1 करोड़ लोग पानी में आर्सेनिक की अधिक मात्रा के कारण कैंसर के शिकार हो जाते है। इस प्रकार हर वर्ष लगभग 7.3 करोड़ कार्य दिवस और 2400 करोड़ रुपए इन रोगों की भेंट चढ़ जाते है।

विश्व में लगभग 50 करोड़ आटो–मोबाईल में उपयोग ईंधन प्रदूषण का एक कारण है। विकसित देशों में 150 टन कार्बन मोनो आक्साइड, 10 लाख टन नाईट्रोजन आक्साईड और 15 लाख टन हाईड्रोकार्बन प्रतिवर्ष वायुमण्डल में पहुँचते है। ईंधनों के जलने से कार्बन मोनो आक्साईड की जो मात्रा वायुमण्डल में आती है वह 6.5 अरब टन प्रतिवर्ष है। विश्व में 70 प्रतिशत वायुमण्डल विकसित देशों के कारण प्रदूषित हो रहा है। ग्लोबल वार्मिंग के दुष्प्रभाव भारत पर ही अधिक है। वायुमण्डल में गेसो की मात्रा बढ़ने से धरती का तापमान बढ़ रहा है, इससे बाढ, सूखा, मानसून में देरी, भूस्खलन, तूफान आदि की नियमित समस्या बनती जा रही है।

धरती के अधिकाधिक दोहन से प्राकृतिक खतरा बढ़ता जा रहा है। भूकम्प का आना एवं ग्लोबल वार्मिंग या जलवायु परिवर्तन का मुख्य कारण कोई और नहीं हम स्वयं ही हैं मशीनीकरण के युग में हम प्रकृति से दूर होते जा रहे है। ❑

**वनों की कटाई, चारागाह के रूप में वनों का उपयोग और पानी के औद्योगिक उपयोग के कारण शुद्ध पानी की किल्लत हर जगह बढ़ती जा रही है। पानी को अपने ढंग से अलग–अलग दिशाओं में मोड़ना, जगह–जगह नहरें, बाँध, विद्युत संयंत्र बनाने से प्राकृतिक संतुलन बिगड़ रहा है। बाढ़, भूस्खलन, जलवायु परिवर्तन की स्थितियाँ बढ़ती जा रही है।**

# अनपढ़, असभ्य और अप्रशिक्षित

**गांव में तकनीकि भी बसती है यह बात सुनकर समझ पाना उन लोगों के लिए थोड़ा मुश्किल होता है जो तकनीकि को महज मशीन तक सीमित मानते हैं। लेकिन तकनीकि क्या वास्तव में सिर्फ मशीन तक सीमित है? यह बड़ा सवाल है जिसके फेर में हमारी बुद्धि फेर दी गई है। मशीन, कल पुर्जे, औजार से भी आगे अच्छी सोच सच्ची तकनीकि होती है। अच्छी सोच से सृष्टिहित का जो लिखित और अलिखित शास्त्र विकसित किया जाता है उसके विस्तार के लिए जो कुछ इस्तेमाल होता है वह तकनीकि होती है। इस तकनीकि को समझने के लिए कलपुर्जे के शहरों से आगे गांवों की ओर जाना होता है। भारत के गांवों में वह शास्त्र और तकनीकि दोनों ही लंबे समय से विद्यमान थे, लेकिन कलपुर्जों की कालिख ने उस सोच को दकियानूसी घोषित कर दिया और ऐसी तकनीकों का इस्तेमाल करनेवाले लोग अनपढ़, असभ्य और अप्रशिक्षित घोषित कर दिये गये। साल 2010 का ग्रामीण तकनीकि के अध्ययन और विस्तार पर जमनालाल बजाज पुरस्कार पाने वाले अनुपम मिश्र का यह लेख जन और तकनीकि दोनों को समझने में हमारी मदद करता है. . .**

पानी का प्रबंध, उसकी चिंता हमारे समाज के कर्तव्यबोध के विशाल सागर की एक बूंद थी। सागर और बूंद एक दूसरे से जुड़े थे। बूंदे अलग हो जाएं तो न सागर रहे न बूंद बचे। सात समंदर पार से आये अंग्रेजों को समाज के कर्तव्यबोध का न तो विशाल सागर दिख पाया और न उसकी बूंदे। उन्होंने अपने यहां के अनुभव व प्रशिक्षण के आधार पर यहां के राज में दस्तावेज जरूर खोजने की कोशिश की लेकिन वैसे रिकार्ड राज में नहीं रखे जाते थे। इसलिए उन्होंने मान लिया कि सारी व्यवस्था उन्हें ही करनी है। यहां तो कुछ है ही नहीं।

देश के अनेक भागों में घूम–फिरकर अंग्रेजों ने कुछ या काफी जानकारियां जरूर एकत्र की लेकिन यह सारा अभ्यास कुतुहल से ज्यादा नहीं था। उसमें कर्तव्य के सागर और उसकी बूंदों को समझने की दृष्टि नहीं थी। इसलिए विपुल मात्रा में जानकारियां इकट्ठी करने के बाद भी जो नीतियां बनीं उन्होंने इस सागर को बूंद से अलग कर दिया. उत्कर्ष का दौर भले ही बीत गया था पर अंग्रेजों के बाद भी पतन का दौर प्रारंभ नहीं हुआ था। उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के प्रारंभ

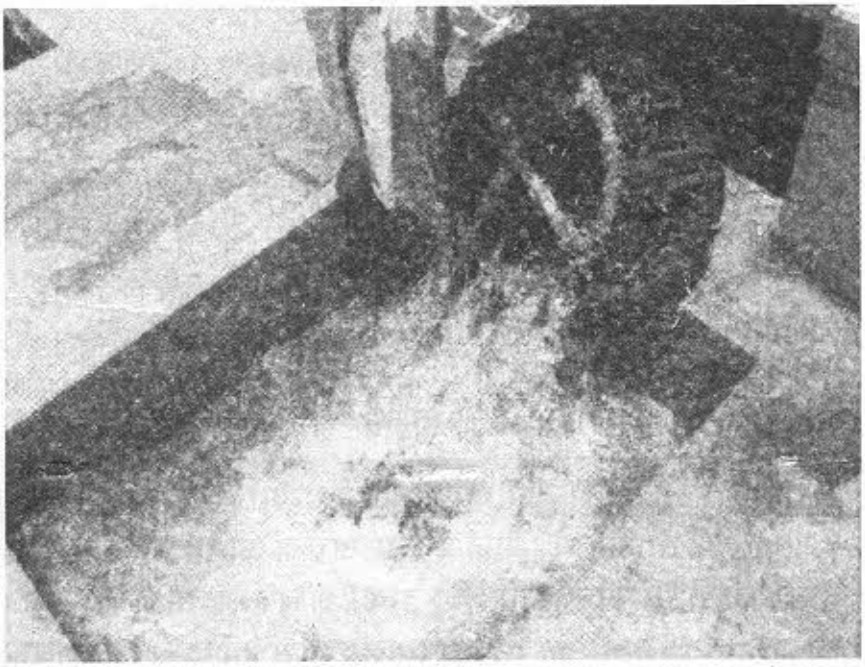

तक अंग्रेज यहां घूमते–फिरते थे और जो कुछ देख–लिख रहे थे उससे उनका गजेटियर तैयार हो रहा था। इस गजेटियर में कई जगहों पर छोटे ही नहीं बड़े–बड़े तालाबों पर चल रहे काम का उल्लेख मिलता है।

मध्य प्रदेश के दुर्ग और राजनंदगांव जैसे क्षेत्रों में सन 1907 तक भी 'बहुत से बड़े तालाब' बन रहे थे। इनमें तांदुला नामक तालाब 'ग्यारह वर्षों तक लगातार काम करने के बाद अभी तैयार ही हुआ था। इसमें सिंचाई के लिए निकली नहर नालियों की लंबाई 513 मील थी।

जो नायक समाज को टिकाये रखने के लिए यह सब काम कर रहे थे उनमें से कुछ के मन में समाज को डिगाने–हिलानेवाली नयी व्यवस्था कैसे समा पाती? उनकी तरफ से अंग्रेजों को चुनौतियां भी मिलीं। सांसी और भील जैसी स्वाभिमानी जातियों को इसी टकराव के कारण अंग्रेजी राज ने ठग और अपराधी करार दे दिया। अब जब सब कुछ अंग्रेजों को ही करना था तो पहले के ढांचों को तो टूटना ही था। उस ढांचे को दुत्कारना, उसकी उपेक्षा करना कोई बहुत सोचा–समझा कुटिल षड़यंत्र नहीं था। वह तो इस नयी दृष्टि का सहज परिणाम था और दुर्भाग्य से वह 'नई दृष्टि' समाज के उन लोगों तक को भा गयी जो पूरे मन से अंग्रेजों का विरोध कर रहे थे।

उस नये राज और उसके प्रकाश के कारण चमकी नयी संस्थाएं, नये आंदोलन भी अपने ही नायकों के शिक्षण प्रशिक्षण में अंग्रेजों से भी आगे बढ़ गये। आजादी के बाद की सरकारों, सामाजिक संस्थाओं तथा ज्यादातर आंदोलनों में भी यही लज्जाजनक प्रवृत्ति जारी रही है।

दूरी एक छोटा सा शब्द है। लेकिन राज और समाज के बीच इस शब्द के आने से समाज का कष्ट कितना बढ़ जाता है इसका कोई हिसाब नहीं। फिर जब यह

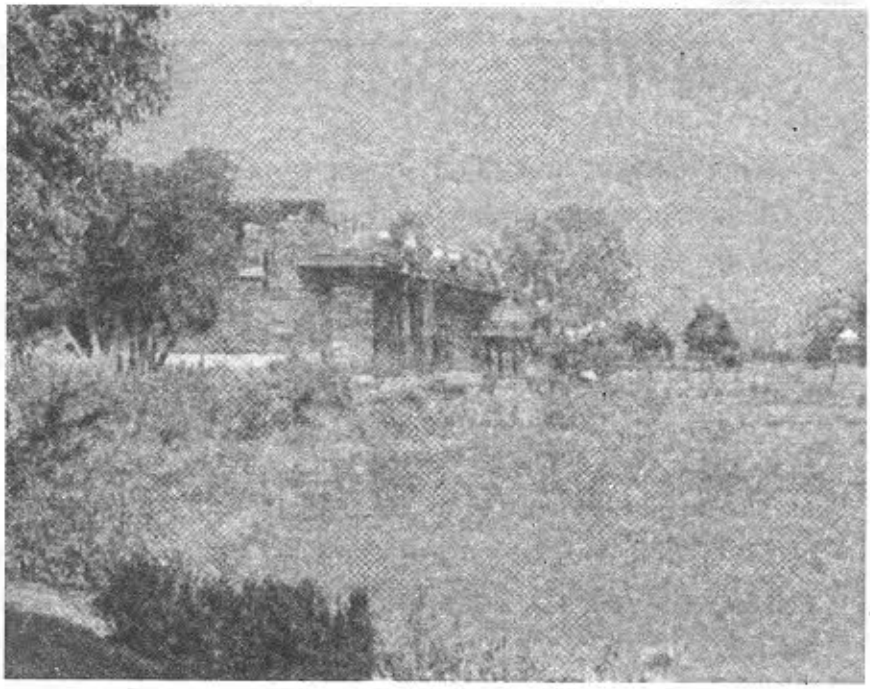

दूरी एक तालाब की नहीं सात समदर की हो जाए तो बखान के लिए क्या रह जाता है? अंग्रेज सात समंदर पार से आये थे और अपना अनुभव लेकर आये थे। वहां वर्गों पर टिका समाज था जहां स्वामी और दास के संबंध थे। वहां राज्य ही फैसला करता था कि समाज का हित किसमें है। यहां जाति का समाज था और राजा जरूरी थे। पर राजा और प्रजा के संबंध अंग्रेजों के अपने अनुभवों से बिल्कुल भिन्न थे। यहां समाज अपना हित स्वयं तय करता था। और उसे अपनी शक्ति से, अपने संयोजन से पूरा करता था। राजा उसमें सहायक होता था। पिछले दौर के अभ्यस्त हाथ अब अकुशल कारीगर में बदल दिये गये थे। ऐसे बहुत से लोग जो गुणीजनखान की सूची में थे वे अब अनपढ़, असभ्य, अप्रशिक्षित माने जाने लगे।

उसी गुणी समाज के हाथ से पानी का प्रबंध किस तरह से छीना गया इसकी एक झलक तब के मैसूर राज्य में देखने को मिलती है। सन 1800 में मैसूर राज्य दीवान पूर्णैया देखते थे। तब राज्यभर में 39 हजार तालाब थे। राज बदला, अंग्रेज आये। सबसे पहले उन्होंने इस 'फिजूलखर्ची' को रोका और सन 1831 में राज की ओर से तालाबों को दी जानेवाली राशि को काटकर आधा कर दिया। अगले 32 साल तक नये राज की कंजूसी को समाज अपनी उदारता से ढकता रहा। तालाब लोगों के थे इसलिए मदद कम हो जाने के बाद भी समाज तालाबों को संभाले रहा। बरसों पुरानी स्मृति ऐसे ही नहीं मिट जाती। लेकिन फिर 32 साल बाद यानी 1863 में वहां पहली बार पीडब्ल्यूडी बना और सारे तालाब लोगों से छीनकर उसे

**सन 1800 में मैसूर राज्य दीवान पूर्णैया देखते थे। तब राज्यभर में 39 हजार तालाब थे। राज बदला, अंग्रेज आये। सबसे पहले उन्होंने इस 'फिजूलखर्ची' को रोका और सन 1831 में राज की ओर से तालाबों को दी जानेवाली राशि को काटकर आधा कर दिया। अगले 32 साल तक नये राज की कंजूसी को समाज अपनी उदारता से ढकता रहा। तालाब लोगों के थे इसलिए मदद कम हो जाने के बाद भी समाज तालाबों को संभाले रहा।**

सौंप दिये गये।

प्रतिष्ठा पहले ही हर ली थी। अब स्वामित्व भी ले लिया गया था। सम्मान सुविधा और अधिकारों के बिना समाज लाचार होने लगा था। ऐसे में उससे सिर्फ अपना कर्तव्य निभाने की उम्मीद कैसे की जाती? मैसूर के 39000 तालाबों की दुर्दशा का किस्सा बहुत लंबा है। इधर दिल्ली तालाबों की दुर्दशा की नयी राजधानी बन चली थी।

अंग्रेजों के आने से पहले तक यहां 350 तालाब थे। इन्हें भी राजस्व के हानि–लाभ के तराजू पर तौला गया और कमाई न दे पाने वाले तालाब को पलड़े से बाहर फेंक दिया गया।

उसी दौर में दिल्ली में नल लगने लगे थे। इसका विरोध हुआ था जिसकी सुरीली आवाज विवाह गीतों या गारियों में दिखती है। जब बाराती की पंगत खाने बैठती तो स्त्रियां 'फिरंगी नल मत लगवाई लियो रे' गातीं। लेकिन नल लगाए गये और जगह–जगह बने तालाब, कुएं और बावड़ियों के बदले अंग्रेजों द्वारा नियंत्रित 'वाटर वर्क्स' से पानी आने लगे।

पहले सभी बड़े शहर और फिर छोटे शहर और गांव में भी यह स्वप्न साकार किया जाने लगा। पर केवल पाईप बिछाने और नल की टोंटी लगा देने से पानी नहीं आता। उस समय तो शायद नहीं लेकिन आजादी के बाद यह बात समझ में आने लगी। तब तक कई शहरों के तालाब उपेक्षा की गाद से पट चुके थे और वहां नये मोहल्ले, बाजार, स्टेडियम खड़े हो गये थे। पर पानी अपना रास्ता नहीं भूलता। तालाब हथिया कर बनाए गये मोहल्लों में वर्षा के दिनों में पानी भर जाता है और वर्षा बीती नहीं कि शहरों में जल संकट छाने लगता है।

शहरों को पानी चाहिए पर पानी दे सकने वाले तालाब नहीं चाहिए। मद्रास जैसे कुछ शहरों का अनुभव यही बताता है कि लगातार गिरता जलस्तर सिर्फ पैसे और सत्ता के बल पर नहीं थामा जा सकता। कुछ शहरों ने दूर बहने वाले पानी को शहर तक ले आने की बेहद खर्चीली व्यवस्था भी बना रखी है।

इंदौर का ऐसा ही उदाहरण आंख खोल सकता है। यहां दूर बह रही नर्मदा का पानी लाया गया था। योजना का पहला चरण छोटा पड़ा तो एक स्वर से दूसरे चरण की मांग भी उठी और 1993 में तीसरे चरण के लिए भी आंदोलन चला।

इसमें कांग्रेस, भाजपा, साम्यवादी दलों के अलावा शहर के पहलवान श्री अनोखीलाल भी एक पैर पर एक ही जगह खड़े रहकर 'सत्याग्रह' किया। इसी इंदौर में अभी कुछ ही दिनों पहले तक बिलावली जैसा तालाब था जिसमें फ्लाईंग क्लब का जहाज गिर जाने पर नौसेना के गोताखोर उतारे गये थे पर वे डूबे जहाज को आसानी से खोज नहीं पाये थे। आज बिलावली बड़ा सूखा मैदान है और इसमें फ्लाईंग क्लब के जहाज उड़ाये जा सकते हैं।

पानी के मामले में निपट बेवकूफियों के उदाहरण भरे पड़े हैं। मध्य प्रदेश के ही सागर शहर को देखें। कोई 600 बरस पहले लाखा बंजारे द्वारा बनाये गये सागर नामक एक विशाल तालाब के किनारे बसे इस शहर का नाम सागर हो गया। आज यहां नये समाज की पांच बड़ी प्रतिष्ठित संस्थाएं हैं। जिले और संभाग के मुख्यालय हैं, पुलिस प्रशिक्षण केन्द्र है और सेना के महार रेजिमेंट का मुख्यालय है, नगर पालिका है और सर हरिसिंह गौर के नाम पर बना विश्वविद्यालय है।

एक बंजारा यहां आया और एक विशाल सागर बनाकर चला गया लेकिन नये समाज की ये साधन संपन्न संस्थाएं इस सागर की देखभाल तक नहीं कर पाईं। आज सागर तालाब पर ग्यारह शोध प्रबंध हो चुके हैं पर अनपढ़ माने गये बंजारे के हाथों बने सागर को पढ़ा–लिखा माना गया समाज बचा तक नहीं पा रहा है।

उपेक्षा की इस आंधी में कई तालाब फिर भी खड़े हैं। देशभर में कोई आठ से दस लाख तालाब आज भी भर रहे हैं और वरुण देवता का प्रसाद सुपात्रों के साथ–साथ कुपात्रों को भी बांट रहे हैं।

छत्तीसगढ़ के गांवों में आज भी छेरा–छेरा के गीत गाये जाते हैं। और उससे मिले अनाज से तालाबों की टूट–फूट ठीक की जाती है। आज भी बुंदेलखण्ड में कजलियों के गीत में आठों अंग डूबने की कामना की जाती है।

हरियाणा के नारनौल में जात उतारने के बाद माता–पिता तालाब की मिट्टी काटते हैं और पाल पर चढ़ाते हैं. न जाने कितने शहर और कितने गांव आज भी इन्हीं तालाबों के कारण टिके हुए हैं। बहुत सी नगरपालिकाएं आज भी इन्हीं तालाबों पर टिकी हुई हैं और सिंचाई विभाग इन्हीं के दम पर खेतों को पानी दे रहा है।

अलवर जिले की बीजा की डाह जैसे अनेक गांवों में आज भी सागरों के नये नायक वही तालाब भी खोद रहे हैं और पहली बरसात में उन पर रात–रात भर पहरा दे रहे हैं। उधर रोज सुबह–शाम घड़सीसर में आज भी सूरज मन भर सोना उड़ेलता है।

कुछ कानों में आज भी यह स्वर गूंजता है – **अच्छे–अच्छे काम करते जाना।** ❑

# मुनाफाखोरी ने बनाया अमरीका को कंगाल

**दुनिया को मंदी, बेरोजगारी, अराजकता के दल–दल से निकालने का यही तरीका है कि लोग और दुनिया भारतीय मनीषियों द्वारा प्रतिपादित वैदिक सिद्धान्तों पर अमल करें। प्रकृति से उतना ही लें जितने की जरूरत है। ना प्रकृति का शोषण करें और ना ही व्यक्ति का। शोषण की बुनियाद पर ना राज खड़े हो सकते हैं और ना ही समाज।**

■ डॉ. रजनीश त्यागी

अमेरिका की 400 कंपनियों ने अमेरिका की कुल पूंजी के 50 प्रतिशत पर कब्जा कर लिया है। यह पूंजी आज अमेरिका के खाते में है लेकिन यह दुनिया की लूट का माल है। दुनिया की 4 प्रतिशत आबादी का अमेरिका दुनिया के 40 प्रतिशत प्राकृतिक संसाधनों का उपभोग करता है। जब तक खाड़ी और अफ्रीका में जनांदोलन होते रहे तब तक कोई बात नहीं थी लेकिन यह आग तो पूंजीवाद के घर में पहुँच गई।

यह माना जाता है कि पूंजीवादी अमेरिका की धड़कन वाल स्ट्रीट से चलती है। वाल स्ट्रीट पर कब्जा करों के नारे के साथ हजारों लोग वहाँ पहुँच गये। निजीकरण का सबसे ज्यादा दुष्प्रभाव अमेरिकियों पर ही दिखने लगा है। वाल स्ट्रीट व उसके सहयोगी संस्थाओं के कर्मचारी दुनियाभर में विद्यमान हैं। कैम्ब्रिज और हावर्ड ही नहीं बल्कि भारत के विश्वविद्यालयों में भी प्रोफेसर बने बैठे हैं।

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के एक इण्टरव्यू में अभ्यर्थी को सिर्फ इसलिए रिजेक्ट कर दिया था कि अभ्यर्थी ने दीनदयाल उपाध्याय के संदर्भ दे दिए थे। दीनदयाल उपाध्याय का नाम सुनकर साक्षात्कार कर्ताओं की भृकुटि तन गई थी वे एक सुर में बोले कि दीनदयाल उपाध्याय ना तो अर्थशास्त्री थे और न ही उन्होंने कोई मॉडल दिया था। लेकिन वो गाँधी को मानते हैं। गाँधी बैरिस्टर से अर्थशास्त्री कब बन गये थे यह तो नहीं बता पायेंगे।

अफ्रीका व खाड़ी के कई देशों में प्रजा ने राजाओं को अपदस्थ कर दिया है अथवा गृह युद्ध जारी है। खाड़ी व अफ्रीका की बयार अब अमेरिका पहुँच चुकी है। भारत में भी अहिंसक आन्दोलन अभी चल रहा है। संसद के शीत सत्र के पश्चात ऊंट किस करवट बैठेगा अभी कहा नहीं जा सकता है।

दुनिया में इस वक्त जो भी जनांदोलन चल रहे हैं उस सबके मूल में अर्थ है। इस अर्थ का जो अर्थशास्त्र है दुर्भाग्य से इस अर्थशास्त्र पर लोमड़ियों का कब्जा रहा है। औद्योगिक क्रान्ति के बाद जो तथाकथित अर्थशास्त्री पैदा हुए वो कंपनियों के कर्मचारी ही साबित हुए हैं। उनका एक ही शास्त्र था मुनाफाशास्त्र। मुनाफा ही उनके लिए अर्थशास्त्र का पर्याय था। इसी मुनाफा खोरी ने तीसरी दुनिया ही नहीं बल्कि 99 प्रतिशत अमेरिकियों को भी कंगाल बना दिया है।

औद्योगिक क्रान्ति से उपजे शोषण ने पूंजीवादियों के विरोधी तो पैदा किए लेकिन रूस के जन्म से पैदा हुए साम्यवाद की 1991 में अकाल मृत्यु हो गई। रूस के जुड़वां भाई चीन ने साम्यवाद के लिबास में पूंजीवादी हृदय छुपा लिया। विस्तारवादी ड्रैगन छुपना और डसना जानता है इसलिए वहाँ क्रान्ति सम्भव नहीं लगती। थ्येमान चौक पर 10,000 विद्यार्थियों को टैंक से कुचलना तथा उइघुर लोगों पर रमजान तक ना रखने की पाबन्दी चीन के इरादों को दर्शाती है। साम्यवादी चीन अपूँजीवाद के रास्ते पर है।

दुनिया में गैर बराबरी, शोषण, भ्रष्टाचार और उपभोक्तावाद के कारण आए आर्थक–राजनैतिक भूचाल लाखों लोगों की जान ले चुके हैं। लाखों लोगों की मौत और शव दहन की राख की कालिख तथाकथित अर्थशास्त्रियों के मुँह पर चिपकी हुई है। लाखों लोगों की हत्या का सेहरा भले ही राजाओं की सेनाओं के सिर बंधा हो लेकिन असली दोषी तो तथाकथित अर्थशास्त्री ही है। हर देश में सलाहकार समितियां बनी हुई हैं। इन्हीं समितियों में अर्थशास्त्र के इन्टेलेक्चुअल

प्रोस्टीट्यूट घुसे हुए हैं। इनको कोई भी खरीद सकता है। इनके द्वारा रचित मुनाफे के संसार में प्रत्येक वस्तु बिकाऊ है। यहाँ मुफ्त में कुछ नहीं मिलता। चैरिटी भी यहाँ मूर्खता है।

इन अर्थशास्त्रियों के पितामह ही कहा करते थे कि अगले सौ बरसों तक यह मान लो कि 'जो अच्छाई है वही बुराई है और जो बुराई है वह ही अच्छाई है। इनकी अर्थनीतियां मानव पर मशीन के अतिक्रमण से उपजी थीं। दो–दो विश्वयुद्ध कराने के पीछे भी यही नीतियां थीं। ये नीतियां उर्वरक का काम कर रहीं थीं। पूंजीवाद की जमीन, अप्राकृतिक सिद्धान्तों पर कब तक चल सकती थी? आज पूंजीवाद के प्रेणता मंदी से गुजर रहे हैं। मंदी से बेरोजगारी पनपती है। बेरोजगारी से असंतोष और अपराध जन्मते हैं।

केन्स ने मंदी के समय सरकारी पैकेज बढ़ाने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उस वक्त की सरकारों को केन्स प्रिय थे लेकिन आज क्रिस्टोफर ए सिम्स और थामस जे सार्जेंट प्रिय हो गये हैं। इन दोनों ने केन्स के सिद्धान्त की आलोचना की है। आलोचना स्वयं की है अथवा सरकारों के इशारों पर की है यह तो शोध का विषय है। लेकिन ये दोनों नोबल पुरस्कार के हकदार हो गये हैं। दुनिया में जितने भी पुरूस्कार है वो सरकार अथवा कम्पनियों के इशारों पर ही दिये जाते रहे हैं। प्रत्येक पुरस्कार वितरण समारोह में यह बात सिद्ध भी हुई है।

अर्थशास्त्र के सन्दर्भ में इसका कारण स्पष्ट है गला काट प्रतियोगिता के इस दौर में कोई भी बड़ी कम्पनी, छोटी कम्पनी का अथवा सरकारी कम्पनी का अस्तित्व खत्म कर देना चाहती है इसलिए बड़ी कम्पनियां कभी नहीं चाहेंगी कि डूबती हुई कम्पनियों को बेल आऊट पैकेज दिए जाएं। अधिक मुनाफा कमाने के लिए बड़ी कम्पनियों के हित इसी में समाये है। इसलिए वैश्विक आर्थिक संस्थान और पुरूस्कार वितरण एजेन्सियां वहीं कार्य कर रहीं हैं जो कि बड़ी कम्पनियों के हित में है। नोबेल पुरस्कार अर्थशास्त्रियों की योग्यता पर शक नहीं है लेकिन दुनिया की परिस्थितियां बहुत कुछ बयान कर रही हैं।

सरकारें अपने कर्मचारियों के वेतनों सहित वार्षिक बजट बनाती हैं इन बजटों में आय–व्यय का हिसाब होता है। आय को बढ़ाने के लिए तथा अगले चुनाव में वोट लेने के लिए सरकारें 'विकास दर' को बढ़ाकर दिखाना चाहती हैं। मंदी और डूबती कम्पनियों के परिणामस्वरूप विकास दर गिरती जाती है। इस काल्पनिक विकास दर को बढ़ाने के लिए ही सरकारें बेल आऊट पैकेज देती आई हैं। बस यही पैकेज लड़ाई की जड़ है और नोबेल की उपज है। आज सरकारी सहायता को गन्दा माना जाने लगा है। सही भी है। वैशाखियों से आप किसी को चला तो सकते हो लेकिन दौड़ा नहीं सकते।

सरकारों की आर्थिक नीतियां 'विकास दर' को ध्यान में रखकर बनती हैं। विकास दर बढ़ाने के लिए टैक्स लगाने पड़ते हैं। टैक्स से महंगाई बढ़ती है। महंगाई कम करने के लिए ब्याज दर बढ़ाई जाती है। ब्याज दर बढ़ने से बैंकों के सेविंग अकाउंटस में पैसा चला जाता है। पैसा की तरलता रूक जाए तो उपभोक्ता लोग बाजार से वस्तुएं नहीं खरीद पाते। दुकानों और गोदामों में माल रूक जाता है। इससे फैक्ट्रियों और कंपनियों के मुनाफे में कमी आ जाती है। इसी को मंदी कहा जाता है। मंदी का अर्थ यही है कि कारखानों का माल नहीं बिक रहा और महंगाई का अर्थ है कि जनता सामान नहीं खरीद पा रही।

मंदी और महंगाई दोनों साथ–साथ हैं। यह अर्थशास्त्रियों की जादूगरी है। भूमंडलीकरण के कारण मंदी और महंगाई विश्वव्यापी हुई है। लोगों को लगता तो है कि उनकी तनख्वाह बढ़ी है लेकिन उससे कहीं ज्यादा महंगाई बढ़ी है। इस महंगाई की जड़ में दलाल संस्कृति है। सारे बड़े आर्थिक संस्थान दलाल ही हैं जो घर बैठे खाते हैं। व्यापार, वित्त का एक काल्पनिक संसार बना हुआ है।

दुनिया में अमीर–गरीब की खाई बढ़ रही है। सरकारें अमीरों की वकील साबित हुई हैं। गरीबों में अमीरों के प्रति आक्रोश है। उन्हें अपने ढगे जाने का मलाल है। इसी दौर में दीनदयाल उपाध्याय के विचार प्रासांगिक हो गये हैं। वो कहते थे कि अर्थ का अभाव और प्रभाव दोनों ही खतरनाक है। आज जो अफ्रीका, खाड़ी और अमेरिका में आन्दोलन खड़े हुए हैं वो अर्थ के अभाव और प्रभाव की परिणति है। अर्थ के प्रभाव के कारण विधायिका और कार्यपालिका ही नहीं बल्कि मीडिया भी कंप्रनियों के चंगुल में फंस गया है। इन्हीं परिस्थितियों ने लोगों को सड़कों पर उतरकर आंदोलन के लिए मजबूर किया है। राजा का प्रथम कर्तव्य अपनी प्रजा की सुरक्षा है। लेकिन आज के राजा तो स्वयं अमीरों के दास हैं। ये नई दास प्रथा भविष्य की अराजकता को आमंत्रण दे रही है। अमेरिका मे क्रान्ति का आगाज हो चुका है। व्यस्त अमेरिकीयों ने न्यूयार्क के आन्दोलन में 20,000 की उपस्थिति दर्ज कराई है। अमेरिका के 800 शहरों सहित 100 देशों से ज्यादा में आन्दोलन पहुँच चुका है। अमेरिकी चार्वाक के अनुयायी बनकर उपभोक्तावादी बन गये थे। आज वाल स्ट्रीट जितनी दोषी है उससे ज्यादा दोषी अमेरिकन ही हैं जिन्होंने ऋण लेकर घी पिया। क्रेडिट कार्ड कोई कल्प वृक्ष नहीं है। भोग बढ़ता गया, रोग बढ़ता गया। त्याग की संस्कृति विलुप्त हो गई।

दुनिया को मंदी, बेरोजगारी, अराजकता के दल–दल से निकालने का यही तरीका है कि लोग और दुनिया भारतीय मनीषियों द्वारा प्रतिपादित वैदिक सिद्धान्तों पर अमल करें। प्रकृति से उतना ही लें जितने की जरूरत है। ना प्रकृति का शोषण करें और ना ही व्यक्ति का। शोषण की बुनियाद पर ना राज खड़े हो सकते हैं और ना ही समाज। ❑

# देश के लिए खतरा है बहुराष्ट्रीय कंपनियां

**आज छोटे–छोटे व्यापारियों का भी रोजगार केन्द्र सरकार छीन रही है। उन्होंने कहा कि मंच पिछले 10 दस वर्षों से जो आंदोलन कर रहा था। आज वह देश के राष्ट्रीय मुद्दा बन गए है।**

स्वदेशी जागरण युवा प्रकोष्ठ मध्य प्रदेश द्वारा राष्ट्रीय संयोजक माननीय अरुण ओझा जी के जबलपुर प्रवास के दौरान प्रदेश के प्रकोष्ठ प्रमुख देवेन्द्र विश्वकर्मा के निवास स्थान पर समाज के प्रमुख व्यक्तियों एवं युवा प्रकोष्ठ की बैठक आयोजित की गई।

सामाजिक बंधुओं की बैठक को संबोधित करते हुए माननीय अरुण ओझा जी ने कहा कि केन्द्र सरकार की देश विरोधी नीति के चलते भारत आर्थिक रूप से गुलामी की ओर बढ़ रहा है।

आज छोटे–छोटे व्यापारियों का भी रोजगार केन्द्र सरकार छीन रही है। उन्होंने कहा कि मंच पिछले 10 दस वर्षों से जो आंदोलन कर रहा था। आज वह देश के राष्ट्रीय मुद्दा बन गए है।

उन्होंने कहा देश के लिए खतरा है बहुराष्ट्रीय कंपनियां।

कार्यक्रम में मुख्य अतिथि वरिष्ठ अधिवक्ता एवं ब्राह्मण समाज के प्रमुख पं. वीरेन्द्र शुक्ला थे। बैठक में अधिवक्ता, डाक्टर, एन.जी.ओ., प्रोफेसर आदि उपस्थित थे। अतिथियों का स्वागत राठौर समाज के प्रमुख सुरेन्द्र राठौर, एन.जी.ओ. प्रमुख अवधेश श्रीवास्तव, आलोक मिश्रा, पूर्व पार्षद राजेश बढ़गईयां आदि ने किया।

कार्यक्रम में भाजपा युवा मोर्चा के पूर्व प्रदेश अध्यक्ष धीरज पटैरिया ने श्रीफल से माननीय अरुण ओझा जी का सम्मान किया।

द्वितीय सत्र में माननीय अरुण ओझा जी ने जबलपुर महानगर की युवा प्रकोष्ठ की बैठक में सभी कार्यकर्ताओं के परिचय के साथ वर्तमान में चल रहे युवा प्रकोष्ठ के कार्यों की जानकारी प्राप्त की।

अरुण ओझा जी ने संगठन विस्तार का विषय रखा एवं युवाओं के प्रश्नों के जवाब भी दिए। कार्यक्रम का संचालन आकाशदीप गुप्ता, गीत अमित कोरी, अधिकारी परिचय दीपक यादव एवं कार्यक्रम में आभार प्रदर्शन प्रदेश के युवा प्रकोष्ठ प्रमुख एवं राष्ट्रीय परिषद् सदस्य देवेन्द्र विश्वकर्मा द्वारा किया गया।

## :: स्वदेशी से स्वराज ::

हमें एहसास नहीं है कि स्वराज की लगभग पूर्ण प्राप्ति स्वदेशी से ही हो सकती है। यदि हम अपनी भाषा के प्रति आदरभाव नहीं रखते हैं, यदि हम अपने वस्त्रों को नापसंद करते हैं, यदि हमारे पहनावे से हमें घृणा है, यदि हम पवित्र शिखा धारण करने में शर्म अनुभव करते हैं, यदि हमें अपना भोजन अरुचिकर लगता है, हमारी जलवायु ठीक नहीं है, हमारे लोग असभ्य है तथा हमारी संगति के योग्य नहीं है, हमारी सभ्यता दोषपूर्ण है जबकि विदेशी आकर्षक है अर्थात् यदि संक्षेप में कहें तो हरेक देशी वस्तु खराब है जबकि विदेशी वस्तु लुभावनी है तो मैं नहीं जानता कि स्वराज का क्या अर्थ है? यदि प्रत्येक वस्तु विदेशी ही अपनानी है तो हमारे लिए यह जरूरी होगा कि हम लम्बे समय तक विदेशी संरक्षण में बने रहें क्योंकि विदेशी सभ्यता जनता में व्याप्त नहीं हुई है। मैं ये महसूस करता हूँ कि हम स्वराज को तभी समझ सकते हैं जब हम स्वदेशी के प्रति न सिर्फ लगाव बल्कि अनुराग रखते हों। हमारे प्रत्येक कार्य में स्वदेशी छाप होनी चाहिए। स्वराज तभी मजबूत हो सकता है जब हम यह धारणा रखते हों कि जो कुछ राष्ट्रीय है, कुल मिलाकर वही ठोस है।

– महात्मा गांधी